Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं लगभग प्रतिदिन प्रवचन करता हूं। एक बार प्रवचन करना तो मेरी जीवन-चर्या का एक अनिवार्य अंग-सा ही बन गया है। कभी-कभी दिन में तीन-तीन, चार-चार बार भी प्रवचन करना आवश्यक होता है। प्रवचन से विश्राम कहां। और बहुत सही तो यह है कि विश्राम लेना ही किसे है। विश्राम तो उसे लेना पड़ता है, जो थकान अनुभव करता है। मुझे इसमें थकान अनुभव ही नहीं होती। यह तो मेरा काम है। अपना काम करते थकान कैसी। उसमें तो उल्टा आनन्द होता है। तब भला उस आनन्द को कौन छोड़ना चाहेगा।

मैं प्रवचन करता हूं। पर ऐसा कर किसी पर अहसान तो नहीं करता। यह तो मेरी स्वयं की साधना है। आत्माराधना करते जो अनुभव मुझे मिले, उन्हें जनता के सामने बिखेर देना—यही तो प्रवचन है। इस अपेक्षा से प्रवचन करने का सच्चा अधिकारी वही है, जिसने अपने जीवन को आत्माराधना में लगाया है। जो व्यक्ति साधना करता ही नहीं, उसे प्रवचन का कैसा अधिकार। साधक अपने अनुभव इसलिए सुनाता है कि कोई उनसे प्रेरणा पाए तो अच्छा। यदि कोई प्रेरणा नहीं भी पाता है तो भी उसने तो अपनी साधना का लाभ कमा ही लिया। स्वाध्याय के रूप में उसके तो निर्जरा हो ही गई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानवता मुसकाए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विश्वभारती प्रकाशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन पाथेय ग्रन्थमाला, पुष्प—१९वां (१९५८)

मानवता मुस्काए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपादक
मुनि धर्मरुचि

© जैन विश्वभारती
लाडनूं-३४१३०६

श्री फतहचैन भंसाली
ट्रस्टी -श्रीमती झमकूदेवी भंसाली मेमोरियल ट्रस्ट, सुजानगढ़-कलकत्ता
सी. आर. बी. कैपिटल मार्केट्स लि०, ३१ मर्जबन रोड़, बम्बई के
सौजन्य से।

प्रथम संस्करण : १९९७
वी. नि. संवत् : २५२२
तेरापंथ संवत् : २३७

₹ 40-00 रुपये/प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं, नागौर (राज०)
मुद्रक : मित्र परिषद्, कलकत्ता के अर्थ-सौजन्य से स्थापित जैन विश्वभारती
प्रेस, लाडनूं-३४१ ३०६।

MANAVATA MUSKAYE
Ganadhipati Tulsi

₹ 40-00

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वकथ्य

मनुष्य जन्म से छोटा या बड़ा नहीं होता। उसका कद उसके आचरण और व्यवहार से उठता और गिरता रहता है। जिस देश या समाज में आचरण के आधार पर व्यक्तित्व का माप नहीं होता, वहां सही और गलत के मानक भी निर्धारित नहीं होते। जिनके पास अपनी कोई स्वतंत्र सोच नहीं होती, वे नए मानकों का निर्धारण नहीं कर पाते। क्या भला है ? और क्या बुरा ? यह अहसास जिनको परिस्पन्दित नहीं करता, वे लोग अपने ढंग से जीते हैं। उनको उनकी धारणाओं के व्यूह से बाहर निकाल पाना बहुत कठिन होता है। इस श्रेणी के लोगों को किसी की सीख नहीं लग पाती। वे एक ढर्रे की जिन्दगी जीते हैं और उसी में संतुष्ट रहते हैं।

जिस देश की संस्कृति में आचरण के आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन होता है, वहां आचरण की पवित्रता या चारित्रिक उज्ज्वलता के लिए प्रशिक्षण भी दिया जाता है। प्रशिक्षण का एक पारम्परिक रूप है प्रवचन। इसे व्याख्यान, सत्संग, कथा आदि अनेक नामों से पहचाना जा जाता है। कुछ लोगों का अभिमत है कि उपदेश के द्वारा संसार को रूपान्तरित करने का प्रयास अथाह समुद्र के खारे पानी को बूंद-बूंद कर मीठा करने का प्रयास है। इस धारणा के आधार पर उपदेश या प्रवचन की बहुत बड़ी सार्थकता नहीं है। किन्तु मेरा अनुभव कहता है कि सुनते-सुनते कभी मन पर ऐसी चोट होती है कि रूपान्तरण घटित हो जाता है। सूरज प्रतिदिन उदित और अस्त होता है। एक दिन के सूर्योदय ने राम-भक्त हनुमान की चेतना को झंकृत कर दिया। सुभद्रा के एक वाक्य ने उसके पति धन्यकुमार को संसार से विरक्त कर दिया। इसी प्रकार प्रवचन में कही गई कोई एक ही बात श्रोता के भीतर तक पहुंचकर उसके जीवन की दिशा को बदल सकती है।

जन-प्रतिबोध मेरी दैनिकचर्या का एक मुख्य अंग है। प्रवचन, संगीत, बातचीत, प्रश्नोत्तर आदि किसी न किसी उपक्रम के द्वारा मैं संपर्क में आने वाले लोगों को समझाने का प्रयास करता हूं। मेरे विनीत, समर्पित और जागरूक साधु-साध्वियां मेरे विचारों को संकलित और संगृहीत करने में संलग्न हैं। उनमें एक नाम मुनि धर्मरुचि का है। दुबला-पतला शरीर, पर संकल्प का धनी। कर्तव्यनिष्ठा और व्यवस्थित कार्यशैली। इन वर्षों में वह मेरे प्रवचनों को संकलित-सम्पादित करने का काम पूरी रुचि और निष्ठा के साथ कर रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'प्रवचन पाथेय' ग्रन्थमाला के अब तक प्रकाशित १८ पुष्पों में से अनेक पुष्प मुनि धर्मरुचि के सम्पादन-कौशल से निकले हैं। ग्रन्थमाला का १९ वां पुष्प **'मानवता मुसकाए'** में भी उसी का श्रम लगा है। प्रस्तुत पुष्प सन् १९५८ में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की बिकीर्ण सामग्री को संकलित कर तैयार किया गया है। स्वाध्यायप्रेमी पाठक इसके स्वाध्याय से मानवता की मुसकान को देखें और ऐसा पुरुषार्थ करें जिससे उनके जीवन में मानवता मुसकराती रहे।

जैन विश्वभारती, लाडनूं
३१ जनवरी १९९७

गणाधिपति तुलसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

धर्म जीवन-शुद्धि का निर्विकल्प साधन है। पर कौन-सा धर्म ? शुद्ध धर्म। अशुद्ध धर्म जीवन-शुद्धि का साधन कदापि नहीं हो सकता। गंदे पानी अथवा कीचड़ से गंदा कपड़ा साफ कैसे होगा। प्रश्न होगा, क्या धर्म भी अशुद्ध होता है ? धर्म अपने मौलिक स्वरूप में शुद्ध ही है, पर काल-प्रवाह के साथ बहकर आए हुए बहुत-सारे अवांछनीय/विजातीय तत्व जब-तब उसकी गंगा-सी पावन और निर्मल धारा में घुलते-मिलते रहते हैं, उसे प्रदूषित करते रहते हैं। यह एक अपरिहार्य-सी स्थिति है। इसे सर्वथा नहीं टाला जा सकता। पर इसके उपरान्त भी धर्म का मौलिक स्वरूप अनन्त कालचक्र में भी सर्वथा विकृत और प्रदूषित नहीं हुआ, यह एक तथ्य है। तभी तो जीवन-शुद्धि के निर्विकल्प साधन की अपनी गुणात्मकता/अर्हता तो वह किसी-न-किसी रूप में सुरक्षित रख पाया है। यह कैसे संभव हुआ ? यह संभव हुआ है समय-समय पर धर्म के विशिष्ट पुरोधाओं द्वारा उसके शोधन की दिशा में किए गए भगीरथ एवं सार्थक प्रयत्नों के चलते। वर्तमान सदी में यह सार्थक एवं महनीय प्रयत्न जिन कुछेक व्यक्तित्वों ने किया है, कर रहे हैं। उनमें एक प्रमुख नाम है —गणाधिपतिश्री तुलसी। इस प्रयत्न के कारण न केवल धार्मिक एवं आध्यात्मिक जगत् में ही, अपितु सार्वजनिक क्षेत्र में उनका नाम बहुचर्चित है। उनका यह सार्थक एवं सलक्ष्य प्रयत्न इतने व्यापक एवं बहुआयामी स्तर पर है कि इसे बीसवीं सदी की सफल धर्मक्रांति की संज्ञा देना अनुचित नहीं होगा। इस धर्मक्रांति के उद्देश्य रहे हैं—

- धर्म धर्म-ग्रन्थों एवं धर्मस्थानों की चारदीवारी से मुक्त होकर जन-जन के दैनिक जीवन एवं जीवन-व्यवहार में प्रतिष्ठित हो। जातिवाद, वर्णवाद व सम्प्रदायवाद की संकीर्ण सीमाओं से बाहर निकले। उसका सार्वजनीन एवं सार्वभौम रूप प्रगट हो। वह अपनी सर्वजनहिताय-सर्वजनसुखाय गुणात्मकता को प्राप्त करे।
- धार्मिकता की कसौटी मात्र क्रियाकांड एवं उपासना नहीं, अपितु शुद्ध आचार एवं सात्विक विचार बनें। नैतिकता एवं मानवताविहीन धार्मिकता की स्थिति समाप्त हो।
- धर्म का सीधा सम्बन्ध भविष्य और परलोक से नहीं, अपितु वर्तमान से जुड़े। जब भी, जिस क्षण भी उसकी आराधना की जाए उससे व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को शान्ति की अनुभूति हो, सुख और आनन्द की प्राप्ति हो, उसके जीवन की पवित्रता सधे। बहुत स्पष्ट है, जहां वर्तमान स्वस्थ है, वहां भविष्य और परलोक बिगड़ने का कोई प्रश्न ही नहीं है, पर वर्तमान को अभिशप्त एवं बिगाड़कर भविष्य और परलोक को सुधारने की भ्रांत धारणा का टूटना अत्यावश्यक है।

गणाधिपतिश्री तुलसी ने अपनी यह धर्मक्रान्ति मुख्य रूप से अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से की है। इसलिए उन्हें अणुव्रत-अनुशास्ता के रूप में एक व्यापक पहचान मिली है। उनके इस अभियान के दूरगामी परिणाम आने तो अभी शेष हैं, पर जो परिणाम अब तक आए हैं, वे भी कम महत्व-पूर्ण नहीं हैं। उनके इस प्रयत्न से लाखों-लाखों लोगों की धर्म के प्रति विश्वास की मीनारों को पुनः स्थिर होने का सुदृढ़ आधार मिला है, जो कि उसके साम्प्रदायिक/संकीर्ण/रूढिग्रस्त/क्रियाकांडात्मक स्वरूप के कारण हिलने लगी थीं। बौद्धिक वर्ग के लिए धर्म का आचरण बुद्धिगम्य बन रहा है। यहां तक कि धर्म-कर्म, आत्मा-परमात्मा, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म आदि में विश्वास न करनेवाले नास्तिकों एवं कम्यूनिस्टों को भी वर्तमान जीवन की शान्ति एवं पवित्रता के साधन के रूप में धर्म को स्वीकार करने एवं स्वयं को धार्मिक कहलाने में कोई कठिनाई महसूस नहीं होती।

इसी क्रम में जन-जन की धार्मिकता को नैतिकता का पुष्ट आधार मिला है। सिसकती मानवता के आंसू सूख रहे हैं। उसके मुसकाने की आंतरिक भूमिका का निर्माण हो रहा है। वैचारिक स्तर पर यह सिद्धान्त स्थापित हो रहा है, यह समझ विकसित होने लगी है कि धार्मिकता से पूर्व मानवता का जीवन में समावेश आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। वह कैसा धार्मिक जिसका मानवीय मूल्यों में विश्वास नहीं, जो मानवता का सम्मान करना नहीं जानता।

गणाधिपतिश्री तुलसी ने इस धर्मक्रांति के लिए अपने पुरुषार्थ का विविध रूपों में प्रयोग किया है। 'प्रवचन' उसका एक मुख्य स्तंभ है। इस माध्यम से वे पिछले छह दशकों से जन-प्रशिक्षण के दुरूह कार्य को बहुत ही व्यवस्थित रूप में सम्पादित करते रहे हैं। अपने प्रवचनों में लोगों की समझ के स्तर पर खड़े होकर वे धर्म की जो चर्चा करते हैं, वह इतनी हृदयग्राही होती है कि उससे व्यक्ति के मानसिक, वैचारिक एवं आचरणात्मक परिवर्तन का द्वार सहज रूप से उद्घाटित हो जाता है। यदि किसी रूप में भी उनके इन छह दशकों के प्रवचनों को सुरक्षित रखा जा सकता तो निश्चित ही वह संकलन धर्मक्रांति के इतिहास का वह एक दुर्लभ दस्तावेज होता। पर ऐसा संभव नहीं हुआ, तथापि उसका जितना अंश सुरक्षित रहा सका है, वह भी अपने-आपमें अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षा महसूस की गई कि उसका व्यवस्थित संकलन-संपादन हो, जिससे कि उसकी सुरक्षा निश्चित की जा सके। पर यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है, उतना सरल तो नहीं। कोई प्रौढ़ साहित्य-मर्मज्ञ ही इस कार्य-योजना को सही रूप में क्रियान्वित कर सकता है। इस सन्दर्भ में मैं अपनी अर्हता-अनर्हता से अपरिचित नहीं हूं। पर पूज्य गुरुदेव ने मुझे इस कार्य में जब नियोजित किया है तो उनके आदेश का हर स्तर पर पालन करना मेरा परम कर्तव्य है। वैसे मेरी यह बहुत स्पष्ट समझ है कि गुरु आशीर्वाद एवं कृपा की शक्ति अचिन्त्य होती है। वह जिसे प्राप्त होती है, उसके लिए स्वयं की अर्हता-अनर्हता/क्षमता-अक्षमता की बात महत्त्वपूर्ण होकर भी बहुत गौण हो जाती है। इस माने में मैं अपने-आपको अत्यन्त सौभाग्यशाली मानता हूं कि पूज्य गुरुदेव ने मुझे यह कार्य करने का आशीर्वाद दिया है। निश्चित ही इस निमित्त मेरे जैसे एक सामान्य-से विद्यार्थी को साहित्य की वर्णमाला सीखने का अवसर मिला है। पूज्य गुरुदेव मेरे जीवन-निर्माता हैं, संयम-रत्न प्रदाता हैं। उनके चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण कर मैं अपने-आपको अत्यन्त गौरवान्वित महसूस करता हूं। सर्वस्व-समर्पण की भूमिका में अब शाब्दिक समर्पण की बात औपचारिकता से ज्यादा कुछ नहीं हो सकती। बस, उनके इंगित/दृष्टि की सम्यक् आराधना करता हुआ ज्ञान-दर्शन-चारित्र के क्षेत्र में एक-एक कदम आगे बढ़ता रहूं, यही काम्य है।

महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी वर्षों से गणाधिपति पूज्य गुरुदेव के साहित्य-संपादन के मंगल अनुष्ठान में लगी हुई हैं। **'प्रवचन पाथेय' ग्रन्थमाला** के कार्य को भी वे इस अनुष्ठान से अलग कर कैसे देख सकती हैं। इस कार्य को सम्पादित करने में उनका सहयोगात्मक भाव, प्रेरक प्रोत्साहन व अनुभवपूर्ण उपयोगी सुझाव मुझे सहज रूप से उपलब्ध हैं। इसके लिए मैं उनके प्रति अत्यंत विनम्र भाव से कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

संघ-परामर्शक मुनिश्री मधुकरजी जैसे धीर-गंभीर व्यक्तित्व का मुझे अयाचित संरक्षण प्राप्त है, यह भी मेरे जीवन का एक सौभाग्य है। उनका शब्दात्मक और उससे भी अधिक अशब्दात्मक मार्ग-दर्शन मेरे जीवन-विकास की विभिन्न राहों को आलोकित करनेवाला है। इस ग्रन्थमाला के संपादन-कार्य में भी उनका मार्ग-दर्शन मुझे प्राप्त होता रहा है, हो रहा है। इस संकलन की कार्य-संपन्नता पर उनको कृतज्ञ भाव से वंदना निवेदन करता हूं।

'प्रवचन पाथेय' ग्रन्थमाला के १८ पुष्प अब तक जन-जन के हाथों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहुंच चुके हैं। यह १९ वां पुष्प **मानवता मुसकाए** के रूप में प्रस्तुत है। सन् १९५८ में प्रकाशित विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं की विकीर्ण सामग्री इसमें संकलित की गई है। जिन साधु-साध्वियों एवं कार्यकर्ताओं का इस सामग्री के संग्रहण एवं संचयन में पुरुषार्थ लगा है, उनके सहयोग का प्रमोद भाव से मूल्यांकन करता हूं।

गणाधिपति पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों को सुन-पढ़कर अनगिन लोगों की सुषुप्त मानवता अंगड़ाई लेकर जागी है, मुसकराई है। **मानवता मुसकाए** के प्रवचन भी मानव-मानव की मानवता को झकझोर कर जगाने एवं उसके मुसकराने में योगभूत बनेंगे, ऐसी आशा करता हूं।

भिक्षु-विहार
जैन विश्वभारती, लाडनूं
१ फरवरी १९९७

—मुनि धर्मरुचि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

गणाधिपतिश्री तुलसी एक प्रखर प्रवचनकार एवं सटीक व्याख्याकार हैं। वे अध्यात्म के गूढ़तम विषयों को अपनी वाणी से इतना सरल व संग्राह्य रूप में प्रस्तुत करते हैं कि श्रोताओं को तद्-विषयक चिन्तन-मनन के लिए बाध्य कर देते हैं, जिससे उनके व्यक्तित्व-विकास का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

जैन विश्वभारती द्वारा प्रकाशित साहित्य की शृंखला में प्रवचन-साहित्य का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। गणाधिपतिश्री तुलसी के प्रवचनों के संकलन 'प्रवचन पाथेय ग्रन्थमाला' के पुष्पों के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं। ग्रन्थमाला का उन्नीसवां पुष्प 'मानवता मुसकाए' के नाम से प्रकाशित हो रहा है। यह पुष्प सन् १९५८ में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं में उपलब्ध सामग्री से तैयार किया गया है। इसमें कुल ८० प्रवचन संकलित हैं। बहुत पुराने होने के उपरान्त भी ये प्रवचन हृदय को छूने की अर्हता की अपनी मौलिक गुणात्मकता को ज्यों-की-त्यों सुरक्षित रखे हुए हैं। उसमें कहीं कोई न्यूनता नहीं आई है।

मुनिश्री धर्मरुचिजी ने इस ग्रन्थमाला के सम्पादन में अपने एकनिष्ठ श्रम का नियोजन कर जिस कर्तव्यबुद्धि का परिचय दिया है, वह प्रेरक एवं स्तुत्य है। उसके लिए हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

प्रकाशन में श्री फतहचैन भंसाली, ट्रस्टी—श्रीमती झमकूदेवी भंसाली मेमोरियल ट्रस्ट, सुजानगढ़-कलकत्ता, सी० आर० बी० कैपिटल मार्केट्स लि० का जो आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए शतशः धन्यवाद।

आशा है, पूर्व संकलनों की तरह यह संकलन भी पाठकों के लिए अत्यंत रुचिकर एवं शिक्षाप्रद सिद्ध होगा।

जैन विश्वभारती, लाडनूं (राज०)
५ फरवरी १९९७

हनुमानमल चिंडालिया
मंत्री
जैन विश्वभारती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

१. साधुत्व का सार	१
२. मानव-जीवन का वैशिष्ट्य	३
३. आचार-धर्म : अहिंसा	५
४. जीवन-निर्माण की कला	६
५. धर्म संजीवनी है	८
६. सुधार की प्रक्रिया	१३
७. गुणों का स्रोत	१५
८. संगठन का आधार	१७
९. श्रद्धा को दृढ़ बनाएं	१९
१०. सम्यक् दर्शन	२०
११. संभव है विश्व-शान्ति	२३
१२. भारत की सबसे बड़ी पूंजी	२५
१३. स्वाद-वृत्ति	२७
१४. आत्मिक समभाव की स्थापना हो	३०
१५. सत्य की साधना : सबसे बड़ी भक्ति	३२
१६. अहिंसा : सबसे बड़ा विज्ञान	३४
१७. मैत्री का विचार आगे बढ़े	३७
१८. संघर्ष कैसे मिटे ?	३९
१९. व्यवहार में अहिंसा और सत्य की उपादेयता	४०
२०. योग से अयोग की ओर	४१
२१. व्यक्ति का नहीं, गुण का महत्व है	४३
२२. पसीने की कमाई	४५
२३. कौन होता है सच्चा ज्ञानी ?	४६
२४. समो निंदा पसंसासु	४९
२५. संकीर्णता और विशालता	५२
२६. उपदेश करना हमारा कर्तव्य है	५४
२७. सुख-दुःख का मूल	५७
२८. विकास या ह्रास ?	५९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९. नव-निर्माण का शुभ संकल्प संजोएं	६३
३०. बुराइयों का मूल	६५
३१. धर्म का आधार	६६
३२. समस्या का हल	६८
३३. ज्ञान और श्रद्धा का योग हो	६९
३४. चिंतन का आकाश	७१
३५, बंधन और मोक्ष	७३
३६. शिक्षा क्यों ?	७५
३७. मिथ्या दृष्टिकोण : सबसे बड़ा पाप	७८
३८. शान्ति की खोज	८१
३९. इन खाइयों को पाटा जाए	८२
४०. मैत्री : विश्व-शांति का आधार	८४
४१. दुर्व्यसनों और कुरूढ़ियों की मार	८६
४२. सुख का उत्स	८७
४३. साधना-पथ	८९
४४. धर्म का शुद्ध स्वरूप	९२
४५. मानव की घोर पराजय	९३
४६. खमतखामणा	९५
४७. सुख और शान्ति का आधार	९९
४८. संकल्प का चमत्कार	१०४
४९. समाज-कल्याण की प्रक्रिया	१०८
५०. सुख का मार्ग	११२
५१. सुख-दुःख का आधार	११५
५२. तवेसु वा उत्तम बंभचेरम्	११८
५३. कौन होता है गरीब ?	१२९
५४. ब्रह्मचर्य	१३४
५५. सत्य की शाश्वत साधना	१३९
५६. मनुष्य मनुष्य का शत्रु नहीं होता	१४६
५७. बचपन को संवारें	१४९
५८. विद्यार्थी : चारित्रिक क्रांति का अग्रदूत	१५२
५९. थोड़ा गहराई से सोचें	१५७
६०. मानव स्वयं अपना भाग्य-निर्माता है	१५८
६१. मानवता मुसकाए	१५९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६२. विश्व-शांति का आधार १६१
६३. नकद धर्म १६३
६४. सूक्ष्म अहिंसा की समझ जागे १६७
६५. अहिंसा की व्यापकता १६९
६६. मद्य-निषेध १७१
६७. कार्य ही महत्त्वपूर्ण है १७५
६८. अणुव्रत की पृष्ठभूमि १७७
६९. वर्तमान युग में अणुव्रत की अपेक्षा १८१
७०. संयम की साधना : परिस्थिति का अन्त १८६
७१. अणुव्रत समाज-व्यवस्था १९१
७२. अणुव्रत आंदोलन का संदेश १९३
७३. अणुव्रत आंदोलन और कार्यकर्ताओं की कार्यदिशा १९५
७४. अहिंसक समाज-व्यवस्था १९८
७५. अणुव्रत सार्वजनीन है २०३
७६. अणुव्रत : एक विज्ञान २०६
७७. अणुव्रत-दर्शन २०७
७८. अणुव्रत आंदोलन : आधार और स्वरूप २०९
७९. नैतिक क्रांति की सही दिशा २१३
८०. व्यावहारिक जीवन और अणुव्रत २१५

परिशिष्ट

१. शब्दानुक्रम/विषयानुक्रम २२१
२. नामानुक्रम २२५
३. पारिभाषिक शब्दकोश २२७
४. प्रेरक वचन २३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. साधुत्व का सार

उपशम का मूल्य

'उवसम सारं खु सामण्णं' यह आगम का एक सूक्त है। इसका अर्थ है—साधुत्व का सार है उपशम। दूसरे शब्दों में अक्रोध। जिसने इस उपशम की बात नहीं सीखी, तो मानना चाहिए कि एक अपेक्षा से उसने साधुत्व को नहीं समझा, कुछ भी नहीं सीखा। जिस प्रकार बिना अनुपान के दवा काम नहीं करती, उसी प्रकार बिना उपशम के दीर्घकालिक साधना भी फलदायी नहीं बनती। इससे भी आगे भगवान महावीर ने तो यहां तक कहा है—'जिसमें उपशम नहीं है—उत्कृष्ट/तीव्र क्रोध है, उसमें साधुत्व ही नहीं है।' इस एक ही बात से आप समझ सकते हैं कि उपशम को, अक्रोध को कितना महत्त्व दिया गया है।

अक्रोध की साधना

प्रश्न है, क्रोध पर विजय कैसे पाई जाए? इसके समाधान में कुछ लोग कहते हैं—क्रोध आए तब मौन रखना चाहिए। इसी प्रकार कुछ लोग कहते हैं कि उस समय किसी मंत्र का जाप शुरू कर देना चाहिए। बातें अच्छी हैं, पर कठिनाई तो यह है कि जिस क्षण क्रोध आता है, तब ये बातें लगभग याद नहीं रहतीं। इस संदर्भ में मैंने जो समाधान सोचा है, वह यह है कि जिस-किसी दिन क्रोध आ जाए, उसके दूसरे दिन नमक छोड़ देना चाहिए। इससे थोड़े ही समय में क्रोध अपने-आप शांत हो सकता है। मैंने इसका प्रयोग भी किया है। एक बहिन मेरे पास आई और बोली—'महाराज! मुझे क्रोध बहुत आता है। कृपया आप मुझे कोई ऐसा उपाय बताएं, जिससे मैं इससे बच सकूं।' बहिन के निवेदन पर मैंने उसे उपरोक्त उपाय सुझाया। दूसरे दिन बहिन पुनः उपस्थित हुई और कृतज्ञता के स्वर में भाव-विभोर होकर बोली—'महाराज! आपने तो मेरा कल्याण कर दिया। कल दिनभर मुझे ख्याल रहा—कहीं क्रोध न आ जाए, कहीं क्रोध न आ जाए, ...। यदि एक बार भी क्रोध आ गया तो कल नमक छोड़ना पड़ेगा। इसका परिणाम यह आया कि पूरे दिन में एक बार भी क्रोध नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आया। आपने यह उपाय क्या सुझाया है, इस बहाने मेरे अन्तर् में एक सिपाही तैनात कर दिया है। वह प्रतिपल मेरी रक्षा करता है। अब आशान्वित हूं कि भविष्य में क्रोध मेरे पास नहीं आएगा।'

बंधुओ ! आप भी इस उपाय को काम में लेकर अपने अन्तर् में एक सुरक्षा-प्रहरी खड़ा कर सकते हैं, जो कि क्रोध को अंदर प्रवेश करने से रोकता रहेगा। इससे प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति में भी आपकी शान्ति अप्रभावित रहेगी, खण्डित नहीं होगी। आप अपने जीवन में अनिर्वचनीय समाधि का अनुभव करेंगे। समाधिमय जीवन जीने से बढ़कर और क्या उपलब्धि हो सकती है। क्या आप इस उपलब्धि से सम्पन्न होना नहीं चाहेंगे ? मैं सोचता हूं, अवश्य चाहेंगे। चाहेंगे तो मार्ग बहुत स्पष्ट है। अब चलना आपको है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. मानव-जीवन का वैशिष्ट्य

जीवन की मर्यादा

मानव का जीवन पानी के बुदबुदे की तरह क्षणभंगुर नहीं है। वह पीछे भी था, आगे भी रहेगा। वह अन्यान्य प्राणियों के जीवन से भिन्न है। मानव में मननात्मक शक्ति है। उसमें चिंतन की क्षमता है। जिन कर्म-बन्धनों ने जीवन को जकड़ रखा है, उनका विच्छेद कर मोक्षावस्था तक पहुंचने का उसमें सामर्थ्य है। दुःखों से आत्यन्तिक मुक्ति या उनके सम्पूर्ण विच्छेद का नाम मोक्ष है, जो आस्तिक-दर्शन के अनुसार जीवन का चरम विकास है। पर आज का मानव यह सब भूलता जा रहा है, जो कि किसी भी स्थिति में उचित नहीं कहा जा सकता। भौतिक लालसाओं और अभिसिद्धियों की पूर्ति के लिये आज वह नाना देवी-देवताओं की पूजा कर रहा है। लेकिन वह भूल क्यों रहा है कि सबसे अधिक पूज्यत्व तो स्वयं उसमें है, मानव में है। मानव-जीवन ही वह साधन है, जिससे मोक्ष तक की साधना की जा सकती है।

संयम का मूल्य

मोक्ष-साधना का आधारभूत तत्त्व है—संयम। संयम ही सच्चा जीवन है। भोग में सच्चा सुख और शांति कहां। असंयमी जीवन सुरक्षित नहीं कहा जा सकता। वह सदा दुःखों से आक्रांत रहता है। शास्त्रों में कूर्म (कछुए) के उदाहरण से इस सचाई को बड़े सुन्दर ढंग से प्रगट किया गया गया है। दो कूर्म थे। जल से बाहर आये। एक ने अपने को संयत कर लिया, इन्द्रियों को सिकोड़ लिया। दूसरा स्वच्छन्द रहा। वह वैसा करने का क्यों कष्ट करने लगा। फलतः वहां घूमती हुई एक लोमड़ी ने उस कछुए को अपना भक्ष्य बना लिया। दूसरा कछुआ, जिसने अपने को सिकोड़ रखा था, जो संयत था, वह बचा रहा। यही मानव-जीवन की कहानी है। संयम जीवन की मर्यादा है। संयम के बिना धर्म का आधार ही क्या रहेगा। संयम के बिना नीतियां निरंकुश हो जाएंगी। जीवन-क्रम अस्त-व्यस्त हो जाएगा। राजनीति दूषित बन जाएगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म-युद्ध ?

भारत में वह भी एक युग था, जिसमें युद्ध को भी धर्म-युद्ध कहा जाता था। मृत्यु और कारावास का दण्ड देने वाले न्यायाधीश भी धर्माधिकारी कहे जाते थे। प्रश्न होता है—युद्ध और दण्डनायक के साथ 'धर्म' विशेषण क्यों ? क्या युद्ध और बल-पूर्ण दण्ड धर्म होता है ? यहां समझने की बात यह है कि धर्म तो अहिंसक साधना में ही है। हां, सुरक्षा आदि की दृष्टि से राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन में युद्ध, दण्ड आदि की अपेक्षा हो सकती है। पर युद्ध आदि में भी यहां अमर्यादा नहीं थी। शस्त्रधारी निःशस्त्र पर आक्रमण नहीं करता था। अश्वारोही पैदल सिपाही पर आघात नहीं करता था। स्त्रियों और बच्चों को नहीं मारा जाता था। इस प्रकार की मर्यादाओं और सीमाओं के कारण वह धर्म-युद्ध कहलाता था। न्यायालयों में पक्षपात और अन्याय नहीं होता था। इसी आधार पर न्यायाधीश धर्माधिकारी कहलाते थे। आज के जीवन में इसकी झलक नहीं के बराबर ही है। मैं मानता हूं, संयम और मर्यादाओं के अभाव का ही यह परिणाम है कि आज लोगों का जीवन अव्यवस्थित और क्लेशपूर्ण बन रहा है। इसलिए जीवन के हर स्तर पर संयम और मर्यादा की प्रतिष्ठा हो, यह आज की सबसे बड़ी अपेक्षा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. आचार-धर्म : अहिंसा

हिंसा का पाप

अहिंसा की आत्मा त्याग में है। आत्मा के चारों ओर हिंसा परिक्रमा करती रहती है। भोग स्वयं हिंसा है। भोग के लिए हिंसा होती है, भोग की सुरक्षा के लिये हिंसा होती है। वस्तु के भोग को छोड़ना त्याग है। वह अहिंसा है। पर त्याग का विषय इतना ही नहीं है। अहिंसा जीवन का व्यापक स्वरूप है। अत्याग भोग से अधिक व्यापक है। जाति का मद हिंसा है। सभ्य, सुसंस्कृत और शिक्षित लोग जाति और रंग की भेदरेखा खींच मनुष्यों को अपनी परछाई जैसा मान रहे हैं, शत्रु मान रहे हैं। जाति का उन्माद उन्हें 'मनुष्य जाति एक है' इसका अनुभव नहीं होने देता। विद्या का उन्माद भी हिंसा है। पढ़े-लिखे लोग अनपढ़ व्यक्तियों से घृणा करते हैं। क्या यह आत्मा की शाश्वत सत्ता का अपमान नहीं है।

ऐश्वर्यशाली लोग गरीबों को सदा हीन-दृष्टि से देखना चाहते हैं। यह ऐश्वर्य का मद है, हिंसा को उभारनेवाली हिंसा है। जीव-हिंसा से आत्मा का पतन होता है। इसलिये वह पाप है। जाति, विद्या और ऐश्वर्य के मद से आत्म-पतन के अतिरिक्त प्रतिहिंसा की भावना भी तीव्र होती है, सामाजिक विक्षोभ भी उत्पन्न होता है, इसलिये वह पाप की परम्परा को आगे बढ़ानेवाला पाप है।

पाप की परम्परा

पाप की परम्परा आगे बढ़ रही है। भाषा का उन्माद बढ़ रहा है। प्रांतीयता और राष्ट्रीयता का उन्माद बढ़ रहा है। राजनैतिक सांप्रदायिकता का उन्माद बढ़ रहा है। अत्याग का उत्कर्ष हो रहा है। हिंसा बढ़ रही है। जहां भोग का त्याग हो, उन्माद का त्याग हो, आवेग का त्याग हो, वहां अहिंसा होती है। इसलिए मैं कहता हूं, अहिंसा की आत्मा त्याग में है।

त्याग से लोग कतराने लगे हैं। यह हिंसा की ओर गति है। अहिंसा उपदेश की वस्तु नहीं है। वह जीवन का आचार-धर्म है। उसकी समृद्धि के लिये त्याग को समृद्ध करना होगा। इस समृद्धि के लिये कार्य करनेवालों का अहिंसक प्रयत्न सफल हो, यह आज की सबसे बड़ी अपेक्षा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. जीवन-निर्माण की कला

जीवन-प्रवाह

जीवन एक प्रवाह है। अनन्त काल से वह अविरल बहता आ रहा है और न जाने कब तक वह इसी प्रकार बहता रहेगा। हमें न इसके ओर का पता है और न छोर का। हम कहां से आये हैं और कहां जाएंगे, इसका हमें बिलकुल भी पता नहीं है। बीच-बीच में इसमें परिवर्तन आते रहते हैं, जिन्हें हम जीवन और मृत्यु कह देते हैं। हमारा वर्तमान ही यह बताता है कि इससे पूर्व भी कुछ था और आगे भी कुछ रहेगा। अतः आज जो कुछ हम करते हैं, वह अतीत और अनागत से असंबद्ध नहीं हो सकता।

वर्तमान को देखें

आप अतीत और अनागत की बात भूल जायें। वर्तमान की ओर ध्यान दें। आप कहेंगे, यह तो नास्तिक दर्शन की बात है। नास्तिक लोग भूत और भविष्य को नहीं मानते। वे केवल वर्तमान को ही स्वीकार करते हैं। अतः केवल वर्तमान की बात सोचना क्या नास्तिकता नहीं है। पर एक बार आप इस बात को भूल जाएं कि आस्तिक और नास्तिक दर्शन क्या कहते हैं। यह चर्चा का विषय है। अभी हम चर्चा में नहीं जाना चाहते। हम केवल वर्तमान की बात सोचते हैं, तब ऐसा लगता है कि आज तो मनुष्य नास्तिक से भी कुछ अधिक हो गया है। नास्तिक बेचारा वर्तमान की बात तो सोचता है, पर आज का मनुष्य तो वर्तमान की बात भी नहीं सोच रहा है। इससे बढ़कर और क्या नास्तिकता हो सकती है। आज हम **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** और 'नास्तिक अश्रद्धालु' को छोड़कर इस परिभाषा पर आ जायें तो क्या आपत्ति है कि वर्तमान की उपेक्षा करने वाला ही नास्तिक है। और दैनिक जीवन में सत्य और अहिंसा को भुला देने से बढकर वर्तमान की उपेक्षा और क्या हो सकती है। मुझे भय है कि यह प्रवाह इसी तरह चलता रहा तो न जाने भविष्य में क्या होने वाला है। अपने भविष्य के निर्माता हम स्वयं ही हैं। हम चाहें तो अपने भविष्य को बना/संवार भी सकते हैं और चाहें तो नष्ट भी कर सकते हैं। इस अर्थ में अपने परमात्मा हम स्वयं ही हैं और हमें अपने ही पुरुषार्थ से काम करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो लोग देश के भविष्य के लिए चिन्तित हैं, उनके लिए तो यह और भी आवश्यक है कि वे अपने वर्तमान की ओर देखें। आप भी अपने वर्तमान जीवन का निरीक्षण करें, अपना आत्मालोचन करें। इसके लिए वेद, पुराण, आगम और कुरान के गहरे अध्ययन की अपेक्षा नहीं है। अपेक्षा केवल यह है कि आप अपने आचार-पक्ष को उज्ज्वल बनाएं। इससे जीवन स्वयं बन जाएगा। यही जीवन-निर्माण की कला है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. धर्म संजीवनी है

सार्वभौम धर्म

धर्म ध्रुव है, शाश्वत है और एक है। बाइबल, कुरान, वेद, पिटक, आगम और गुरुग्रन्थ साहिब आदि सभी धर्म-ग्रन्थों में धर्म की महिमा वर्णित है। समझने की बात यह है कि धर्म-तत्व सभी धार्मिक ग्रन्थों में मिलते हैं। पर उन तत्वों पर व्यक्तिगत या सम्प्रदायविशेष का अधिकार नहीं होता। वे व्यापक होते हैं।

सिखों के गुरु-ग्रन्थ साहिब में बहुत-सारे अच्छे धर्म-तत्व मिलते हैं। परन्तु क्या वे केवल सिखों के लिए ही हैं? नहीं, सबके लिए हैं। वेदों के अच्छे तत्वों को सनातनी ही क्यों, प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में उतार सकता है। इसी प्रकार जैन-आगमों में वर्णित तत्व भी सबके लिए हैं। वे केवल जैनों के लिए ही हों, ऐसी बात नहीं है।

दशवैकालिक सूत्र में भगवान महावीर ने कहा है—**'न सा महं नोवि अहं पि तीसे।'** किसी पुरुष का मन जब विचलित हो जाए, उस समय उसे ऐसा सोचना चाहिए—मैं उसका नहीं हूं और वह मेरी नहीं है। इस चिंतन से वस्तु के प्रति जो आसक्ति/लालसा होती है, वह मिट जाती है। त्यागी कौन है, इस प्रश्न को उत्तरित करते हुए कहा गया है—**'साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ'** जो स्वाधीनतापूर्वक भोगों को छोड़ता है, वही त्यागी है। एक व्यक्ति भोगों को भोगने में सक्षम है। सारी सामग्री उपलब्ध है। वह मनोनुकूल है। उस स्थिति में भी यदि वह भोगों को नहीं भोगता है तो वह वास्तव में त्यागी है। इसके विपरीत भोगों को भोगने की भावना है, किंतु अभाव, अक्षमता या किसी विवशता से भोग नहीं पाता है तो वह त्यागी नहीं है।

भोग न भोग सकने के कारण अगर कोई पूज्य हो तो एक भिखारी भी पूज्य क्यों नहीं होगा। पैसे के लिए दर-दर भटकनेवाले के पास पैसा न हो तो क्या वह पैसे का त्यागी है? नहीं, वह त्यागी नहीं है, क्योंकि उसकी लालसा, संग्रहवृत्ति अभी मिट नहीं पाई है।

आप सोचें, क्या ये तत्व मात्र जैनों के लिए ही हैं? जैनों के लिए ही क्यों, सबके लिए हैं। गीता में कहा गया है—**'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।'**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो श्रद्धावान् होता है, वह ज्ञान को प्राप्त करता है। ऐसे अनेक धर्म-वाक्य हैं, जो व्यापक और प्रेरक हैं। उनका प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए।

धर्म का स्वरूप

जीवन की पवित्रता का साधन जो है, वही धर्म है। साधन तीन हैं—सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचार। जीवन-शुद्धि के लिए इन तीनों का अनुशीलन जरूरी ही नहीं, अनिवार्य भी है।

आज-कल कई लोग धर्म को अफीम कहते हुए उस पर लांछन लगाते हैं। मेरी दृष्टि में धर्म को अफीम कहने के तीन कारण हो सकते हैं—

- धर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होना।
- धर्म का स्वरूप विकृत होना।
- समझने के उपरान्त भी उसका आचरण न होना।

मैं मानता हूं, इन तीनों में से कोई-न-कोई कारण जरूर है, अन्यथा वे धर्म को अफीम नहीं मानते।

जब तक धर्म-तत्व अपने जीवन में नहीं आएगा, तब तक उसका असर दूसरों पर होगा भी कैसे। दूसरे शब्दों में कथनी और करनी की एकरूपता नहीं हो तो उसका प्रभाव पड़नेवाला भी नहीं है। लोग कानों से सुनी बात पर विश्वास करते हैं, पर उससे भी ज्यादा विश्वास उस पर करते हैं, जो आंखों से देखते हैं। इसलिए कथनी और करनी में समानता होनी चाहिए। कथनी और करनी की समानता के अभाव में श्रद्धा नहीं रहती। आज भी लोगों में सच्चे धर्म के प्रति श्रद्धा है। भले कुछ लोग उसे धर्म की संज्ञा न भी दें, फिर भी सत्यस्वरूप के प्रति किसी की अश्रद्धा नहीं हो सकती। मेरा अनुभव है कि किसी भी व्यक्ति की सम्यक् ज्ञान और सम्यक् विश्वास के प्रति अश्रद्धा नहीं ही सकती। क्यों ? 'क्यों' का उत्तर बहुत स्पष्ट है। विश्वास के बिना काम चल नहीं सकता। पति का पत्नी के प्रति, पिता का पुत्र के प्रति, सास का बहू के प्रति,.....यदि विश्वास न हो तो जगत् का व्यवहार चल ही नहीं सकता। विश्वास होगा तो ज्ञान भी रखना होगा। जब ज्ञान और विश्वास सम्यक् होंगे तो आचरण भी सम्यक् होगा। अन्यथा ज्ञान और विश्वास का पूर्ण लाभ नहीं मिल सकता। नास्तिक भी सम्यक् ज्ञान और श्रद्धा/विश्वास को मानते हैं। अपेक्षा से मैं नास्तिकों को भी धार्मिक मान लेता हूं। यद्यपि उनका परमात्मा, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, कर्म आदि में विश्वास नहीं है। भले वे भूत और भविष्य को तो नहीं मानते, पर वर्तमान को तो मानते ही हैं। वर्तमान में सत्य, अहिंसा आदि के प्रति जो श्रद्धा है, वह धर्म-तत्व के अनुकूल ही है। वे धर्म को अफीम कहते हैं, इसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण सम्भवत: यह हो सकता है कि धर्म का आडम्बरप्रधान रूप ही उनके सामने आया है। वास्तविक जो रूप था, वह दृष्टि से ओझल ही रहा।

धर्म की व्यापकता

भगवान महावीर ने कहा—'धर्म का अधिकारी प्राणि-मात्र है। प्रत्येक व्यक्ति हर स्थान में धर्म कर सकता है। धर्म-स्थान और व्यक्ति-विशेष से वह बंधा हुआ नहीं है।'

अपने नाम के साथ जैन लगाने वाला ही मोक्षगामी है, दूसरा नहीं—यह विचारधारा भगवान महावीर की नहीं है। उनकी उदार भावना सबके लिए समान है। उन्होंने कहा—'जिसमें सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और आचरण है, वही मोक्ष का पथिक है। इन तीनों का जितना अंश जिसमें सम्यक् है, उतनी सीमा तक वह मोक्ष का आराधक है। यदि कोई ज्ञानी नहीं है, लेकिन तपस्या करता है, तो उसकी वह तपस्या अच्छी है। मिथ्यादृष्टि की तपस्या भी अच्छी है। आगम की भाषा में—

'तत्थ णं जे से पढमे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं असुयवं—उवरए, अविण्णायधम्मे। एस णं गोयमा! मए पुरिसे देसाराहए पण्णत्ते।'

पर तपस्या के सन्दर्भ में हमारी अवधारणा स्पष्ट होनी चाहिए। केवल न खाना ही तपस्या नहीं है। खाने में संयम करना भी तपस्या है, बल्कि बड़ी तपस्या है। उपवास करने की अपेक्षा मनोज्ञ भोजन मिलने पर खाने में संयम रखना कठिन कार्य है। मनोज्ञ भोजन न मिलने पर न खाना दूसरी बात है। मनोगत भोजन मिलने पर उसे अनासक्ति से छोड़ना बहुत कठिन कार्य है।

एक साधक अकेला रहकर ब्रह्मचर्य की साधना करता है। उसकी अपेक्षा उस साधक की साधना ज्यादा कठिन है, जो संयोग के साथ रहकर मन को काबू में रखे। सचमुच ही अनुकूल संयोग की स्थिति में मन को वश में रखना बहुत कठिन कार्य है। आप इतिहास को उठाकर देखें, विजय सेठ, विजया सेठानी और स्थूलिभद्र जैसे इने-गिने उदाहरण ही ऐसे मिलते हैं, जो अनुकूल संयोग मिलने पर भी फिसले नहीं। लेकिन अनुकूल संयोग पा फिसलनेवाले लोगों के उदाहरण तो बहुत मिलेंगे।

शीलं दुष्करम् : शीलं सुकरम्

एकान्त में रहनेवाले एक ऋषि ने कहा—'तपस्या में सबसे सरल ब्रह्मचर्य है, क्योंकि इसमें खाने-पीने की किसी वस्तु का त्याग नहीं करना पड़ता। एक दिन वह एक ग्रन्थ पढ़ रहा था। उसमें लिखा था—'शीलं दुष्करम्'—शील दुष्कर है। ऋषि ने कहा—'यह गलत है।' बस, उसको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काटकर उसने लिख दिया—'शीलं सुकरम्।' भक्त लोगों ने कहा—'महाराज ! ऐसा मत कीजिए। यह ऋषियों की अनुभूत वाणी है।' लेकिन ऋषि को अपने अनुभव पर गर्व था। उसने कहा—'नहीं, मैं कहता हूं, वह सही है।'

संयोगवश दूसरे ही दिन कसौटी हो गई। ऋषि धूनी तप रहा था। रात का समय था। करीब दस बजे थे। एक रूपवती नवयुवती ऋषि के पास आई। वह सास से झगड़ कर पीहर जा रही थी। बीच में ही अन्धड़ आया और वह पथभ्रष्ट होकर ऋषि की कुटिया पर जा पहुंची। उसने ऋषि से रात भर रहने को स्थान मांगा। ऋषि का मन निर्विकार था। उसने पूछा—'बहन ! कौन हो तुम ?' उसने कहा—'मैं अबला हूं। घर जा रही थी। मार्ग में रात हो गई। आप मुझे स्थान देकर मेरी रक्षा कीजिए।' ऋषि ने पार्श्वस्थ मन्दिर की ओर संकेत करते हुए कहा—'उस मंदिर में चली जाओ और किवाड़ बन्द कर लो।' युवती ने वैसा ही किया। आधा घण्टा व्यतीत हुआ होगा कि ऋषि का मन बदला। उसने सोचा, जिस सुख के लिए सारा संसार भटकता रहता है, उसका संयोग आज मुझे अनायास ही मिल गया था। लेकिन मैं कैसा हतभाग हूं, जो सहज उपलब्ध सुख को खो बैठा। खैर, हुआ सो हुआ, अब भी समय है। बस, वह उठा और मन्दिर पहुंच गया। किवाड़ खटखटाया। लेकिन युवती ने नहीं खोला। बार-बार प्रयत्न करने पर भी नहीं खोला, बल्कि और अच्छे ढंग से बन्द कर लिया। अब क्या हो। दूसरा मार्ग नहीं पाया तो ऋषि मन्दिर के गुम्बज पर चढ़ा और ढक्कन को हटाकर नीचे उतरने लगा। लेकिन कमर तक उतरा कि फंस गया। और फंसा तो ऐसा बुरी तरह फंसा कि न तो वापस ऊपर ही आ सका और न नीचे ही उतर सका। युवती सावधान थी। पौ फटते ही द्वार खोल कर भाग गई। प्रातः भक्त लोग कुटिया पर आए। वहां पर ऋषि को न पाकर खोजते हुए मंदिर पहुंचे। वहां उसे अधर लटकते देख साश्चर्य पूछा—'ऋषीश्वर ! तपस्या के अनेक प्रकार हमने देखे हैं। पर यह प्रकार तो कभी नहीं देखा। आपने यह क्या नया प्रकार अपनाया है ?' ऋषि ने कहा—'मुझे बाहर तो निकालो, फिर बताऊंगा।' भक्त लोगों ने गुंबज को फोड़कर उसे निकाला। उसने कहा—'पहले वह ग्रन्थ लाओ, और बात फिर करूंगा।' ग्रन्थ लाया गया। ऋषि ने 'शीलं सुकरम्' को काटा और उसके स्थान पर पुनः 'शीलं दुष्करम्' कर दिया, बल्कि उसके आगे 'शील महादुष्करम्' और जोड़ दिया। और इसके साथ ही उसने सारा घटना-क्रम बिना किसी लुकाव-छिपाव के सच-सच बता दिया।

आपने देखा कि अनुकूल संयोग मिलने पर व्यक्ति की कैसी दशा हो जाती है। वस्तुतः तपस्या का मर्म वही पा सकता है, जो प्रतिस्रोत में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चले। हालांकि प्रतिस्रोत में सबकी गति समान नहीं होती, किंतु जितनी होती है, वह अच्छी है। तपस्या भले कोई भी करे, अच्छी है। मिश्री खाने से क्या मुसलमान व हरिजन का मुंह कड़वा होगा? नहीं, जो स्वस्थ है, उसका मुंह मीठा ही होगा। ठीक इसी प्रकार तपस्या आदि धर्म कोई भी क्यों न करे, वह मोक्ष-साधक ही है। धर्म का अधिकार नास्तिक को भी है।

सार-संक्षेप यह कि धर्म सर्वजनहिताय है, सर्वजनसुखाय है और आकाश की तरह व्यापक है। भले कोई उसे अफीम कहे, पर इससे उसकी गुणात्मकता और व्यापकता में कहीं कोई अन्तर नहीं आ सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. सुधार की प्रक्रिया

नैतिकता का आयात नहीं होता

देश में चरित्र-हीनता की बाढ़ आने से नैतिक दुर्भिक्ष हो गया है। अनाज का दुर्भिक्ष होने पर उसकी पूर्ति हो सकती है। दूसरे स्थानों से आयात किया जा सकता है। परन्तु नैतिकता का आयात नहीं होता। आज अनैतिकता एक छोर से दूसरे छोर तक व्याप्त है। इसे मिटाने के लिए भगीरथ प्रयत्न करना होगा। याद रखें, इसको मिटाने के लिए कोई परमात्मा या देवता नहीं आएगा। यह कार्य मनुष्यों को ही करना होगा।

मनुष्य समाज-सुधार, प्रदेश-सुधार और राष्ट्र-सुधार करने से पहले स्व-सुधार न भूल जाए। व्यक्ति-सुधार का असर समाज और देश पर हुए बिना नहीं रहता। एक तपस्वी जंगल में मूक साधना करता है, किंतु उसका प्रभाव पारिपार्श्विक वायुमण्डल में फैल जाता है। लोग कहते हैं—यज्ञ का उद्देश्य भी वायुमण्डल को शुद्ध करना है। सार यही है कि व्यक्ति-सुधार ही अन्य सुधारों का मूल है।

व्यक्ति-सुधार : तीन सूत्र

व्यक्ति-सुधार के तीन सूत्र हैं—

१. आत्म-निरीक्षण।

२. आत्म-आलोचन।

३. संकल्प।

आंख से सारा संसार देखा जा सकता है, लेकिन अपना मुंह नहीं। उसके लिए दर्पण अपेक्षित है। यदि शरीर में हड्डी, मांस, नाड़ी आदि को देखना हो तो बिना एक्सरे के असम्भव है। इनसे भी अन्दर की ओर देखना चाहें तो वह बाह्य पदार्थ का विषय नहीं है। उसके लिए बाह्य नेत्रों से काम नहीं चलेगा। आत्मा से आत्मा को देखना होगा। इसीलिए कहा गया—**'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।'**

आत्म-निरीक्षण में वंचना नहीं हो सकती। मनुष्य दूसरे के विषय में गलत धारणा रख सकता है, किन्तु अपने विषय में नहीं। व्यक्ति आत्म-निरीक्षण से आत्मा की आलोचना करे। तत्पश्चात् सत्संकल्प करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी बुराई को मिटाने के लिए स्व-संकल्प के सिवाय दूसरा और क्या प्रयोग हो सकता है। यहां यह प्रश्न उठता है कि यदि मन शुद्ध है तो फिर संकल्प की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यही है—वर्तमान में मन ठीक है, यह अच्छा है। लेकिन भविष्य में बुराई न आए, इसके लिए संकल्प की आवश्यकता है। मोटर में ब्रेक का उपयोग हर समय नहीं होता। दुर्घटना से बचने के लिए वह उपयोगी होता है। यदि मोटर से ब्रेक निकाल दिया जाए तो फिर कैसी दशा होगी, इसकी कल्पना आप स्वयं कर सकते हैं। बिना संकल्प का मन बिना ब्रेक की मोटर के समान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. गुणों का स्रोत

अच्छाई के फैलाव की प्रक्रिया

बुराई और अच्छाई दो शाश्वत तत्त्व हैं। पर दोनों की प्रकृति अलग-अलग है। बुराई को बढ़ावा देने की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं तेजी से बढ़ती है। पर अच्छाई प्रयास करने पर भी मुश्किल से बढ़ती है। बुराई के पंख होते हैं, अच्छाई के नहीं, इसलिए उसे फैलाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। कुछ लोग इस भाषा में सोचते हैं कि अच्छाइयों को फैलाने के लिए धुआंधार प्रचार करना चाहिए। कोई कहता है—उसके लिए राज्य का सहारा लिया जाना चाहिए। कोई कहता है—धनवानों का सहयोग लिया जाना चाहिए। कोई कहता है—अच्छाइयों का अधिक-से-अधिक प्रचार होना चाहिए, प्रदर्शन होना चाहिए। पर मेरी दृष्टि में ये बातें बहुत कार्यकारी नहीं हैं। प्राथमिक अपेक्षा यह है कि जो अच्छाई को फैलाना चाहे, वह सबसे पहले स्वयं उसके अनुकूल आचरण करे, क्योंकि मनुष्य से बढ़कर पूंजी, प्रचार और प्रदर्शन नहीं हैं। सब कुछ मनुष्य है। वह यदि कुछ करना चाहे तो सबसे पहले अपना सुधार करे। दूसरे के निर्माण के नशे में कहीं अपने को न भूल जाए। यह एक सचाई है कि सुधार और निर्माण के संदर्भ में सोचते तो बहुत-से लोग हैं, पर मन से चाहने वाले कम हैं। फिर करने वाले तो उनसे भी कम हैं। अणुव्रत आन्दोलन का यही उद्देश्य है कि सबसे पहले व्यक्ति का सुधार हो। व्यक्ति-व्यक्ति के सुधार से समाज, राष्ट्र और विश्व के सुधार का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो जायेगा।

अणुव्रत की उपयोगिता

बहुत-सारे लोग अणुव्रत के नियमों को आदर्श मानते हैं, तो कुछ लोग उन्हें अव्यावहारिक भी। उनका चिन्तन है कि युग के चालू प्रवाह में इन नियमों को पाला जाना संभव नहीं है। आज के युग की परिस्थितियां ऐसी हैं कि व्यक्ति सत्य और प्रामाणिकता से अपना काम नहीं चला सकता। सत्य एवं प्रामाणिकता की टेक भी रखे और युग के साथ भी चले—ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं चल सकतीं। इन दोनों बातों को साथ-साथ चलाने का मतलब है—दो घोड़ों की सवारी, जिसका कि परिणाम कभी भी अच्छा नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आ सकता। इस प्रकार वे नियमों की उपेक्षा करते हैं। मुझे उनका यह चिन्तन सही नहीं लगता। मेरी दृष्टि में अणुव्रत के नियम आज के युग में अत्यंत उपयोगी हैं। हां, यह संभव है कि कुछ लोग अपनी दुर्बलता और अक्षमता के कारण इन नियमों को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं हैं। पर अपनी दुर्बलता और अक्षमता के कारण नियमों को अव्यावहारिक बताना उचित नहीं।

ध्यान रहे, अणुव्रत के नियमों को ग्रहण करने का मतलब गृहत्यागी बनना नहीं है। इसका तो मतलब है कि व्यक्ति जहां-कहीं भी रहे, वह वहां के वातावरण को स्वस्थ और चरित्रयुक्त रखे। कम-से-कम अपना आचरण तो अवश्य ही पवित्र रखे। इसी में उसके जीवन की सच्ची सार्थकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. संगठन का आधार

ऐक्य और संगठन

ईराक में सैनिक क्रांति हुई। प्रधानमंत्री शाह और युवराज को मार दिया गया। राजतंत्र गणतंत्र के रूप में बदल गया। इस खूनी क्रान्ति का कारण क्या है? सरकार और जनता का विचार-भेद। जनता का झुकाव स्वतंत्रता की ओर था और शासक-वर्ग उसे किसी दूसरे पक्ष की ओर घसीटना चाहता था। विचार-विभेद की तीव्रतम प्रतिक्रिया खूनी क्रांति के रूप में सामने आई।

विचारों के विभेद से परस्पर खाई पड़ जाती है। उसके अभाव में संगठन स्थायी नहीं रह सकता। अतः संगठन की स्थिरता के लिए विचारों का ऐक्य नितान्त आवश्यक है। बिना ऐक्य के केवल संगठन करना बालू की नींव पर मकान खड़ा करना है।

विचार-भेद का एक प्रमुख कारण आचार-भेद है। दो शताब्दी पहले की बात है। महापुरुष भिक्षु स्वामी ने एकता के आधार/बल पर एक संगठन खड़ा किया। उसे 'तेरापंथ' के रूप में पहचान मिली उसके सभी सदस्यों की एक आचार-क्रिया है। तत्त्व-दर्शन भी एक है। तत्त्व-निर्णय में संगठन के आचार्य का निर्णय सर्वमान्य होता है। आचार्य की ध्वनि ही सभी सदस्यों में प्रतिध्वनित होती है। इसी एकता के आधार पर आज भी वह गौरव के साथ अपने पैरों पर खड़ा है। जहां यह ऐक्य नहीं होता, वहां कोई भी संगठन चल नहीं सकता, लड़खड़ाने लग जाता है, चाहे वह किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो।

जरूरी है स्वार्थ का त्याग

विचार-भेद का दूसरा प्रमुख कारण स्वार्थ है। स्वार्थों की टक्कर में फिर वह सब कुछ होता है, जो नहीं होना चाहिए। राजस्थान के उच्च न्यायालय की शाखा को जयपुर से हटाया गया कि वकीलों के विरोध ने उग्र रूप ले लिया। प्रदर्शन किया गया। उसे रोकने के लिए पुलिस को अश्रुगैस छोड़नी पड़ी। यह क्या है? स्वार्थ की थोड़ी-सी चोट लगे और मनुष्य इतना असंयत हो जाए! आखिर स्वार्थ की भी कोई सीमा होती होगी। स्वार्थ के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्याग का भी कम महत्त्व नहीं है। धार्मिक क्षेत्र स्वार्थ से सर्वथा अछूता रहे, इसी में सबका हित है और यही उसकी गरिमा के अनुकूल है। कुछ लोग इस भाषा में सोचते हैं कि धर्मसंघों में गणतंत्र होना चाहिए। पर वे भूल जाते हैं कि यहां गणतंत्र और एकतंत्र का प्रश्न ही नहीं उठता। यहां तो स्वतंत्र है, स्व का तंत्र है। स्वतंत्र में दूसरे को हस्तक्षेप करने का अवसर ही नहीं आता। यदि वह स्वतंत्रता से दूर हो जाए तो दूसरे उसे सजग कर देते हैं। यदि वह स्वतंत्र की सीमा में रहे तो अन्य तंत्रों की कोई आवश्यकता नहीं है। जहां स्व का तंत्र मजबूत नहीं होता, वहां दूसरे हस्तक्षेप कर बैठते हैं।

लेबनान में अमरीकन फौजें उतरीं। उसकी पृष्ठभूमि में अपने तंत्र की कमी और स्वार्थ ही तो है। यदि सब लोगों की दृष्टि अपने-अपने स्वार्थ पर ही टिकी रही तो बहुत अच्छाई की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए आज सब लोग वैचारिक एकता की भावना को दृढ करने के लिए स्वार्थों के त्याग की बात सीखें।

विचार-विभेद के दो प्रमुख कारणों की संक्षिप्त चर्चा मैंने की। कारण के मिटने से कार्य/परिणाम स्वयं मिट जाता है। विचार-विभेद मिटा कि वैचारिक ऐक्य सहज सध जाता है। वैचारिक ऐक्य सधा कि संगठन की मजबूती एवं स्थायित्व दोनों अपने-आप आ जाते हैं। ध्यान रहे, मजबूती एवं स्थायित्व किसी भी संगठन की सफलता के लिए अत्यंत आवश्यक तत्व हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. श्रद्धा को दृढ बनाएं

मनुष्य अशांत है, यह एक प्रकट सचाई है। परन्तु वह अभी तक भी इस सचाई से परिचित नहीं हो पाया है कि उसकी अशांति का मूल स्वयं वही है। उसकी वृत्तियां और प्रवृत्तियां ही उसके जीवन को जटिल बनाती हैं। यदि इस सचाई को जान भी पाया है तो भी हृदयंगम नहीं कर पाया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस क्षेत्र में चेतना उद्‌बुद्ध नहीं हुई है। विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए चेतना जागी और लाखों प्राण 'स्वतंत्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' के नारे पर मर मिटे। मैं मानता हूं, अगर बुराई के विरुद्ध भी वैसी ही चेतना जाग जाती तो लोग कठिनाइयों से मुंह नहीं मोड़ते। और तो क्या, नीति-निष्ठ व्यक्तियों का द्वार भी अनीति के लिए खुला है। इससे अधिक और क्या विडम्बना हो सकती है! यह द्वार इसलिए खुला है कि वे इस भाषा में सोचते हैं, बिना मतलब कठिनाई कौन झेले। कार्य तो बुरा है, पर कर रहे हैं। फिर एक कोई नहीं करेगा, उससे क्या बनना है। आखिर सब भले बनें, तब नीति टिकेगी।.... मैं मानता हूं, इस प्रकार श्रद्धा गिरती है, व्यक्ति गिर जाता है। सुख-सुविधा और विलास का ऐसा नशा छा जाता है कि फिर उठने की बात सहज नहीं रहती। सरसरी दृष्टि से देखें—केवल भारत में ही नहीं, लगभग समूची दुनिया के पट पर सर्वत्र यही चित्र चल रहा है। आखिर यह कब तक चलेगा? अशांति के अन्तर्-दाह से झुलसा मनुष्य शांति के लिये दौड़ रहा है और दौड़ता ही रहेगा। वैयक्तिक स्वतंत्रता के बिना यह मिलने की नहीं और यह तत्त्व लोगों की समझ में नहीं आ रहा है। यह तो ठीक वही दशा है—कस्तूरी की खोज में मृग समूचा जंगल खोज लेता है और वह मिलती नहीं। सचमुच शांति चाहिए तो सबसे पहली अपेक्षा है कि उसके अनुकूल श्रद्धा बने और चेतना जागे। प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतंत्र बना ले तो अशांति की सत्ता उखड़ जाए, सारी समस्याएं स्वयं सुलझ जाएं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. सम्यक् दर्शन

सम्यक्त्व : मिथ्यात्व

सम्यक् दर्शन और विश्वास एक अर्थ के द्योतक हैं। दर्शन का अर्थ है—देखना। दर्शन के पीछे जो 'सम्यक्' विशेषण है, वह अपना विशिष्ट स्थान रखता है। सम्यक् दर्शन का अर्थ है—यथार्थ दर्शन। जो तत्त्व जिस रूप में हो, उसे वैसा ही देखना।

बाह्य वस्तु आंखों से देखी जाती है, लेकिन जब आंखों में रोग हो जाता है, तो वस्तु-दर्शन सम्यक् नहीं होता। पीत रोग से सफेद वस्तु पीली और तिमिर रोग से एक चांद के दो चांद दिखते हैं। उसी प्रकार जब अन्तर्दृष्टि सम्यक् नहीं होती, तब बुरी वस्तु भी अच्छी लगने लगती है। अन्तर्दृष्टि सम्यक् न होने से देव, गुरु और धर्म में विपरीत बुद्धि हो जाती है। इसे मिथ्या दर्शन या मिथ्यात्व कहा जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

अदेवे देवबुद्धिः स्यात्, गुरुधीरगुरौ च सा।
अधर्मे धर्मबुद्धिः स्यात्, मिथ्यात्व हि तदुच्यते॥

सबसे बड़ा पाप

'पच्चीस बोल' के चवदहवें बोल के अन्तर्गत पाप तत्त्व के अठारह भेद बताए गए हैं। उनमें सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है। आज शिक्षित और अशिक्षित सभी इस पाप के शिकार हैं। इसका सम्बन्ध विद्या से नहीं है, अपितु आत्मा की शुद्धि से है। तत्त्व की भाषा में दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय के क्षय, क्षयोपशम एवं उपशम से है। यदि ज्ञान से इसका सम्बन्ध होता तो मनःपर्यवज्ञानी आत्मशुद्धि के अभाव में ज्ञान को खोकर नरक में नहीं जाते।

देव का स्वरूप

देव उस दिव्य आत्मा को कहा जाता है, जो वीतराग हो, केवलज्ञान और केवलदर्शन से सम्पन्न हो। वीतराग आत्मा किसी पर निग्रह और अनुग्रह नहीं करती। मनुष्य की कमजोरी है कि उसे अपने पुरुषार्थ पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भरोसा नहीं। वह अपने हित के लिए देव की सहायता चाहता है। पर याद रखें, वीतराग देव कभी किसी की सहायता करने नहीं आते। मनुष्य का अपना हित स्वयं के करने से ही होता है। देव केवल निमित्त मात्र बनते है। वे हमारे आदर्श हैं। उनका स्मरण आदर्श तक पहुंचने के लिए किया जाना चाहिए, कुछ भौतिक प्राप्ति के लिए नहीं। वीतराग हमारे देव हैं। हम गुणात्मकता पर ध्यान दें, नाम से हमारा मोह नहीं होना चाहिए। मैंने एक गीत में कहा है–

वीतराग को देव बनाएं, हरि हो हरिहर संज्ञा चाहे।
आखिर अपना हित अपने से, होगा समुचित साधन द्वारा।
प्रभो ! यह तेरा पंथ सुप्यारा ॥
बना रहे आदर्श हमारा ॥

प्रश्न उभरता है—देव को वीतद्वेष न कहकर वीतराग क्यों कहा गया है? इसका एक बहुत महत्त्वपूर्ण कारण है। आप ध्यान दें, द्वेष को जीतना सरल है, पर राग को जीतना उतना सरल नहीं है। गाली सहने वाले बहुत मिलेंगे, परन्तु प्रशंसा को सह सके, ऐसा कोई बिरला ही मिलेगा। इसलिए देव को वीतराग कहा गया है।

कुछ लोग वीतरागी की कल्पना मन्दिर में करते हैं, कुछ मूर्ति में करते हैं। यों तो व्यक्ति देव की कल्पना जहां चाहे वहीं कर सकता है, परन्तु उसका सर्वाधिक उपयुक्त स्थान तो अपना मन ही है। मन में कल्पना कर आत्मा से उपासना करें। मन को पवित्र बनाएं।

वीतराग को ही देवबुद्धि से ग्रहण करें। कुदेवों को देवबुद्धि से सिर न झुकाएं। देव में देवबुद्धि रखना सम्यक् दर्शन है। इसी प्रकार सद्गुरु में गुरुबुद्धि और धर्म में धर्मबुद्धि रखना सम्यक् दर्शन है। कुदेव में देवबुद्धि और देव में कुदेवबुद्धि, कुगुरु में सद्गुरुबुद्धि और सद्गुरु में कुगुरुबुद्धि तथा अधर्म में धर्मबुद्धि और धर्म में अधर्मबुद्धि रखना मिथ्यात्व है।

धर्म : अधर्म

मैं अनुभव करता हूं, आज भी आम लोगों में धर्म के नाम से आकर्षण है। स्वार्थी लोग धर्म के नाम पर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। जिस कार्य की सिद्धि में कठिनता महसूस होती है, उसमें धर्म की पुट लगी कि वह सिद्ध हो जाता है। भिखारी राम नाम पर पैसा मांगता है। तम्बाकू पीने-वाला पुण्य के नाम पर तम्बाकू और अग्नि मांगता है। धर्म के नाम पर धन इकट्ठा होता है। धर्म बहुत सस्ता हो गया है। कुंआ, प्याऊ, सदावर्त, हॉस्पिटल आदि सभी धर्म के नाम पर चलते हैं। और तो क्या, चोरी भी धर्म के नाम पर होती है। घर के सदस्य बहुत हैं। आय नहीं है अथवा कम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसी स्थिति में कुटुम्ब पालन हेतु चोरी करना भी धर्म है। सबको धर्म से प्यार है। कोई भी पापी बनना नहीं चाहता। व्यक्ति जो चाहे सो करे, केवल धर्म ही पुट होनी चाहिए। यह स्थिति देखकर बार-बार मन में प्रश्न उठता है कि अधर्म नाम का तत्व फिर है क्या? स्वार्थी लोगों ने धर्म नाम को विकृत कर दिया है। धर्म और अधर्म का संक्षिप्त सूत्र यही है— जिस प्रवृत्ति से हम मोक्ष के निकट जाते हैं, वह धर्म है और जिससे बन्धन के निकट जाते हैं, वह अधर्म है।

धर्म और कर्त्तव्य

प्रश्न होता है, जिससे दुनिया को सुख-शांति मिले, क्या वह धर्म नहीं? इसके समाधान में हमें देखना होगा कि मोक्ष से निकटता हो रही है या नहीं? यदि हो रही है तो निश्चित ही धर्म है। इसके विपरीत यदि मोक्ष की निकटता नहीं हो रही है तो उसे धर्म किसी भी हालत में नहीं कहा जा सकता। किंतु धर्म न होने के बावजूद उसे सीधा अधर्म भी कहना उचित नहीं है। क्यों? इसलिए कि सीधा-सपाट अधर्म कहना लोगों को अप्रिय लगता है। यहां प्रश्न होता है, धर्म भी नहीं, अधर्म भी नहीं, फिर उसे क्या कहा जाए? उसे 'लोक-धर्म', 'समाज-धर्म',.....कहा जा सकता है। आप देखें, बहू सास को प्रणाम करती है। स्पष्ट है, इस प्रवृत्ति का मोक्ष-साधना से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए इसे धर्म नहीं कहा जा सकता। पर अधर्म भी कैसे कहा जाए। अतः इसको 'कुल-धर्म' कहा गया। इस प्रकार की एक-दो नहीं, अपितु सैकड़ों-सैकड़ों प्रवृत्तियां गिनाई जा सकती हैं, जो धर्म न होकर भी लोक-व्यवहार के साथ जुड़ी हुई हैं, जिनके बिना लोक-व्यवहार नहीं चल सकता। इन्हें 'लोक-धर्म' कहा गया। 'लोक-धर्म' और कुछ नहीं, कर्तव्य का ही दूसरा नाम हैं। यहां एक बात और ज्ञातव्य है। धर्म और कर्तव्य में अन्तर है। धर्म कर्तव्य है, लेकिन सभी कर्तव्य धर्म नहीं हैं। कर्तव्य देश, काल, परिस्थिति के अनुसार बदल सकते हैं, लेकिन धर्म सर्वदा सर्वत्र एक ही रहता है। धर्म का कार्य है मांजना। वह जीवन को मांजता है। जो अपने जीवन को मांजना चाहें, वे धर्म को पहचानें और उसका प्रारम्भ अपने जीवन से करें। निश्चित ही वे अपने जीवन के निखरे रूप से साक्षात्कार कर सकेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. संभव है विश्व-शांति

मनुष्य मूढ हो रहा है

मूढ का अर्थ अज्ञानी नहीं है। जो मोह-ग्रस्त हो, उसे मूढ कहा जाता है। आज का मनुष्य अज्ञानी नहीं है, किंतु मूढ है। एक व्यक्ति के प्रति दूसरे व्यक्ति के मन में, एक वर्ग के प्रति दूसरे वर्ग के मन में, एक राष्ट्र के प्रति दूसरे राष्ट्र के मन में शंका और भय के भाव घिरे हुए हैं। ऐसा लगता है, जैसे विश्वास जनमा ही न हो। इस अविश्वास की भावना ने शत्रु-भाव को बहुत ही गहरा दिया है, जटिल बना दिया है। प्रलय की कल्पना इसी भूमिका में पल रही है।

विश्व-शांति के लिये खतरा

वैयक्तिक चरित्र की उच्चताविहीन सामुदायिकता बढ़ रही है, यह विश्व-शांति के लिए गंभीर खतरा है। संयमविहीन राष्ट्रीयता की भावना, रंग-भेद की भित्ति पर टिकी हुई उच्चता और नीचता की परिकल्पना, अधिकार-विचार की भावना और शस्त्रों की होड़—ये सभी विश्व-शांति के लिए खतरे हैं।

विश्व-शांति का आधार

प्रश्न है, विश्व-शांति का आधार क्या है? विश्व-शांति का मौलिक आधार है—वैयक्तिक शांति। इसके अभाव में हजार प्रयत्न करने पर भी विश्व-शांति फलित नहीं हो सकती। आप पूछेंगे, वैयक्तिक शान्ति का व्यावहारिक रूप क्या है? वैयक्तिक शांति का महान् रूप क्षमा और अनाक्रमण में प्रतिबिम्बित होता है। इसलिए शांति चाहनेवाले सभी व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि वे आज वैयक्तिक चरित्र-उच्चता, संयम, मनुष्य जाति की एकता, अनाक्रमण और निःशस्त्रीकरण के प्रयत्नों को बलवान् बनाते हुए विश्व-शांति के आधार को पुष्ट बनाने का प्रयत्न करें।

हिंसा : कारण और परिणाम

हिंसा की जड़ विलासिता, ऐश्वर्य और अधिकार में है। दूसरे शब्दों में सुख-सुविधा की अति में है। जो स्वार्थी होता है, अपनी सुख-सुविधा को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक महत्त्व देता है, उसके लिए हिंसा के द्वार खुल जाते हैं। वह अपनी सुविधाओं की पूर्ति के लिए दूसरों को सताता है, मार डालता है और अपने अधीन रखना चाहता है। यह हिंसा का आदि चरण है। यह बढ़ते-बढ़ते दूसरे राष्ट्र को सताने, मारने और निगल जाने तक पहुंच जाता है। एक की या थोड़े-से लोगों की हिंसा पूरी दुनिया को संकट में डाल देती है। इसलिए बढ़ते हुए हिंसा के प्रवाह को हर स्थिति में रोका जाना चाहिए।

विश्वास का मूल आचरण है

विश्वास आचरण से पैदा होता है। उसे लेख और वक्तव्य उसे पैदा नहीं किया जा सकता। भारतीय मानस में अहिंसा की एक गहरी रेखा, एक गहरा संस्कार जमा हुआ है। यहां के लोग शांतिप्रिय हैं। वे सलक्ष्य आक्रमण से बचते रहे हैं। इसी विश्वास की भित्ति पर पण्डित नेहरू ने कई बार कहा—'भारत कभी भी आक्रांत नहीं होगा।'

संहारक स्थिति पैदा करने वाला कोई भी अच्छा नहीं है। भले फिर वह साम्यवादी हो या असाम्यवादी। साम्यवाद या असाम्यवाद, यह गौण प्रश्न है। मूल प्रश्न मानवता का है। मानवता को मिटानेवाले मानव स्वयं मिट जायेंगे, तब बाद किसका रहेगा। इसलिए आज की सबसे बड़ी अपेक्षा यह है कि अहिंसा को सर्वोच्च प्रतिष्ठा मिले। इस लक्ष्य को सामने रखकर हमें समर्पित भाव से कार्य करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. भारत की सबसे बड़ी पूंजी

भारतीय जीवन का मौलिक स्वरूप

भारतीय नीति और चरित्र के प्रधान अंग हैं—अभय, अनाक्रमण, अहिंसा, मैत्री, सत्य, प्रामाणिकता, सात्त्विकता, आहार-शुद्धि या मादक वस्तु-वर्जन और सादगी। सपनों की दुनिया में जाकर भी जो सपने का नहीं बनता, वही वास्तविक व्यक्ति है। विलास की जिन्दगी बितानेवाले कभी भी शांति को नहीं छू सकते। गरीबी की अभावात्मक स्थिति और अमीरी की अति भावात्मक स्थिति से परे जो त्याग या संयम है, इच्छाओं और वासनाओं की विजय है, वही भारतीय जीवन का मौलिक स्वरूप है। इसी ने भारत को सब देशों का शिरमौर बनने का अवसर दिया था।

आवश्यकताओं को बढ़ाने की बातें सुनने में मीठी लगती हैं। किन्तु उन्हें बढ़ानेवाले आज कितने असंतुष्ट और अशांत हैं, यह कौन नहीं जानता। भारतीय सूत्र है—आवश्यकताओं का अल्पीकरण करो। इससे जीवन-शक्तियों का विकास होता है। जीवन-विकास को दबानेवाला पदार्थ-विकास हमें नहीं चाहिए। मेरी दृष्टि में भारत के पास सबसे बड़ी पूंजी है—नीति और चरित्र। सिक्के की पूंजी यहां जीवन का साधनमात्र रही है, साध्य नहीं। साध्य रहा है—संतोष और शांति।

समाज व्रती बने

संतोष और शांति की प्राप्ति का साधन है—व्रत या संयम। व्रती समाज की कल्पना जितनी दुरूह है, उतनी ही सुखद है। व्रत लेने वाला कोरा व्रत ही नहीं लेता। पहले अपने विवेक को जगाता है, श्रद्धा और संकल्प को दृढ़ करता है, कठिनाइयों को झेलने की क्षमता पैदा करता है, प्रवाह के प्रतिकूल चलने का धीरज लाता है और फिर वह व्रत लेता है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो बाहर का अनुशासन विजातीय अनुशासन है। व्रती आत्मानुशासन की परिधि में आ जाता है। आज अनुशासन की शृंखला छिन्न-भिन्न हो रही है। स्वतंत्रता का सही मूल्य नहीं आंका गया है। नियमानुवर्तिता व मर्यादा के बिना स्वतंत्रता नहीं आती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन की उच्चता का मापदण्ड

प्रश्न है, व्रती समाज की कल्पना साकार कैसे हो सकती है ? मैं समझता हूं, इस कार्य को त्यागी-तपस्वी ऋषि-मुनि ही कर सकते हैं। क्यों ? इसलिए कि जिस मार्ग में जो स्वयं स्पष्ट होता है, वही उसकी प्रेरणा देने का अधिकारी है। दीये से दीया जलता है। दृष्टि से दृष्टि मिलती है। यहां आत्मदर्शी ऋषियों की लम्बी परम्परा है। आरम्भ, परिग्रह और भोग से दूर रहकर उन्होंने जो सत्य पाया, समाधान पाया, वही उन्होंने शब्दों में गूंथा। उसका सार है—तप और संयम। तपस्वी और संयमी जीवन ही उत्तम जीवन है।

भोग-प्रधान क्षेत्रों में पदार्थों से समृद्ध जीवन ही उच्च जीवन है। त्याग-प्रधान परम्परा इस मापदण्ड को स्वीकार नहीं करती। सादगी और सरलता गरीबी की उच्चता नहीं है, किंतु त्याग की महिमा है। धन से मन को कभी समाधान नहीं मिला। मानसिक समाधि के बिना शांति नहीं। हमारा शांति-सूत्र है—द्वन्द्व का उपरम। भोग-प्रधान जगत् में द्वन्द्व ही परम पुरुषार्थ है और आत्म-प्रधान जगत् में आत्मिक शांति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. स्वाद-वृत्ति

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया

मनुष्य को भूख इतनी नहीं सताती, जितनी लोलुपता सताती है, असंयम सताता है। शरीर की भूख को मिटाना तो बड़ी सरल बात है। थोड़ा खाया कि मिट गई। पर इस अतृप्ति-आकांक्षा को कैसे मिटाया जाये। एक कवि ने कहा है—

तन की तृष्णा तनिक है, तीन पाव क (या) सेर।
मन की तृष्णा अमित है, गिले मेर-का-मेर॥

शरीर के लिये ज्यादा-से-ज्यादा आवश्यक है तो तीन पाव या सेर होगा। पर यह मन की तृष्णा इतनी बड़ी होती है कि मनुष्य इससे कभी तृप्त होता ही नहीं। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है—'**इच्छा हु आगाससमा अणंतिया**।' अर्थात् मनुष्य की इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं। ज्यों-ज्यों उनकी प्राप्ति होती जाती है, त्यों-त्यों वे उद्दीप्त होती जाती हैं। अग्नि में ईंधन डालने से क्या वह कभी शान्त हुई है। इसी प्रकार एक आकांक्षा के पूरी होते ही दूसरी आकांक्षा और शुरू हो जाती है। और जिसको ज्यादा तृप्ति होने लगती है, उसकी अतृप्ति भी उसी वेग से बढ़ने लगती हैं। मारवाड़ की एक कहावत है—'बड़ी रात का तड़का ही बड़ा।' यानी रातें जितनी बड़ी होती हैं, उनका उषाकाल भी उतना ही बड़ा हो जायेगा। बड़ी रातों में प्रकाश हो जाने के कितनी देर बाद सूर्य निकलता है। पर छोटी रातों में पौ फटते के थोड़ी देर पश्चात् ही सूर्य निकल आता है। उसी प्रकार थोड़ी आकांक्षाएं हैं, वे बड़ी जल्दी पूरी हो जाती हैं और उनसे कुछ सन्तोष भी मिल जाता है। पर जिनकी आकांक्षाएं बढ जाती हैं, वे बढती ही जाती हैं। और यहां तक कि वे कभी भी पूरी होनी मुश्किल हैं। यद्यपि अप्राप्ति पर आकांक्षाएं न बढें यह ऐकान्तिक तथ्य नहीं है, पर प्रायः प्राप्ति ही उन्हें और बढ़ाती है। इसलिए भगवान महावीर ने कहा है—'**जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई**।'

भरना तो पेट ही है

हां, तो शरीर की आवश्यकता तो बहुत थोड़ी होती है, पर स्वाद-वृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़ी बुरी होती है। मनुष्य जैसी अपनी वृत्ति बना लेता है, वह वैसी ही बन जाती है। नमक को प्रायः भोजन में लोग आवश्यक मानते हैं। मैं नहीं कह सकता कि वह स्वास्थ्य के लिये कितना आवश्यक है और कितना नहीं। पर जीभ को तो उसका स्वाद आता ही है। कई महाशय तो ऐसे होते हैं कि कभी भूल से ही नमक कम या ज्यादा पड़ जाता है तो वे एकदम गुस्से में आ जाते हैं, गालियां देने लगते हैं। यहां तक कि थाली को ठोकर मारकर उठ खड़े होते हैं। यह स्वाद-वृत्ति का ही फल है। यदि व्यक्ति स्वाद का दास नहीं है तो इतना बड़ा रूप नहीं हो सकता। आखिर भरना तो पेट ही है। वह क्या नमक के बिना नहीं भर सकता। एक बात और समझने की है-- कभी नमक कम या अधिक पड़ भी जाए तो बनानेवाले को शान्ति-पूर्वक भी तो समझाया जा सकता है। थोड़ी-सी बात के लिए आपे से बाहर हो जाना सचमुच मानवता का नग्न-नृत्य है। और नमक की तो ऐसी बात है कि पहले एक-दो ग्रास में तो इसके बिना कुछ फीकापन महसूस होता है पर फिर वैसे कोई अन्तर नहीं लगता। यह स्वयं मेरे अनुभव की बात है। कभी-कभी शाक में नमक कम आता है तो मैं बोलता नहीं, चुपचाप खा लेता हूं। पहले तो एक-दो ग्रास में अटपटा-सा लगता है, पर फिर कोई विशेष अटपटा नहीं लगता। बाद में दूसरे साधु खाते हैं तो कभी-कभी वे मुझे कहते भी हैं। पर मैं समझता हूं, इसमें ऐसी क्या बात है। और कभी-कभी तो दूसरों को पता ही नहीं चलता।

तामसिक वृत्तियों को बढ़ानेवाला भोजन क्यों ?

लोग स्वाद के लिए शाक-सब्जी में बहुत मिर्च-मसाले डालते हैं। पर मैं समझ नहीं पाता कि वे इस स्वाद से क्या पाते हैं। जब सात्विक आहार से भी काम चल सकता है तो फिर इतने तले, भुंजे और मिर्च-मसालों की क्या आवश्यकता है। इससे तो उल्टा स्वास्थ्य बिगड़ता ही है। हम तो साधु ठहरे। विभिन्न प्रदेशों में जाते हैं। वहां जैसा भोजन मिलता है, उसी से काम चलाते हैं, क्योंकि हमारे लिए कोई अलग से भोजन नहीं बनता। जैसा लोग खाते हैं, वैसा ही हमें मिलता है। अतः कभी-कभी हमारे बड़ी दिक्कत हो जाती है। उधर गुजरात में हम गये। वहां शाक बड़े सात्विक बनते हैं। अतः वहां हमें भी काफी अनुकूलता रही। यहां तक कि हमारे कई साधुओं ने इसे बड़ा सुख माना। पर हमें एक जगह तो रहना नहीं है। इधर महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और राजस्थान में आए तो फिर वही मिर्च-मसाले शुरू हो गए। इससे कई साधुओं के तो मुंह में छाले हो गए। तब मन में आया, लोग क्यों व्यर्थ ही स्वाद के वश होकर तामसिक वृत्तियों को बढ़ाने वाला भोजन करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपभोग-परिभोग व्रत

इस स्वाद-वृत्ति/अतृप्ति पर नियन्त्रण रखने के लिए जैन परम्परा में श्रावक के सातवें व्रत—**उपभोग-परिभोग व्रत** का बड़ा महत्व है। उपभोग यानी एक बार काम आने वाला पदार्थ, जैसे भोजन, पानी आदि। परिभोग यानी बार-बार काम आनेवाला पदार्थ, जैसे वस्त्र, आभूषण आदि। श्रावक उपभोग-परिभोग की सीमा करे, वह इस व्रत का अभिप्रेत है। वैसे संसार में अनेक द्रव्य हैं, पर उन्हें संक्षेप की दृष्टि से छब्बीस में बांध दिया गया है। बहुत-से जैन लोग तो अपने खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने तथा और अन्य काम आने वाली चीजों की दैनिक सीमा भी करते हैं। यह अच्छा क्रम है और इसका अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। अणुव्रतों में शील और चर्या के अन्तर्गत खाद्य-संयम से सम्बन्धित एक नियम रखा गया है—दिन भर में इकतीस द्रव्यों से अधिक द्रव्य नहीं खाऊंगा। इसके पीछे भी यही दृष्टिकोण है कि व्यक्ति की स्वाद-वृत्ति पर अंकुश रहता रहे। इकतीस द्रव्यों की सीमा तो सर्वाधिक के दृष्टिकोण से रखी गई है। इसमें भी जितनी कमी रखी जाये, उतना ही श्रेयस्कर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. आत्मिक समभाव की स्थापना हो

विद्या जीवन-निर्माण की दिशा बने

विद्या जीवन की दिशा है। उसे पाकर मनुष्य अपने इष्ट स्थान पर पहुंच सकता है। चरित्र जीवन की गति है। सही दिशा मिल जाने पर भी गति-हीन व्यक्ति इष्ट स्थान पर नहीं पहुंच पाता। सही दिशा और गति—दोनों मिलें, तब पूरा काम बनता है।

चरित्रशून्य या आचारशून्य विद्या मनुष्य के लिए वरदान नहीं बन पाती। आज विद्या के लिए जितना प्रयत्न हो रहा है, उतना चरित्र या आचार के लिए नहीं।

शान्ति की मांग क्यों ?

मनुष्य इच्छापूर्ति के लिए उच्छृंखल गति से चला। इच्छा पूरी नहीं हुई। इच्छापूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर बना। वह निर्भरता भी टूट रही है। इसलिए वह अशांत बन रहा है। अब वह चाहता है—कहीं शांति मिले। आप ध्यान से देखें, शांति वे चाहते हैं, जो सुख-सुविधाओं को पाकर अतृप्त हैं। जो गरीब हैं, सुख-सुविधाओं से वंचित हैं, वे शांति की चर्चा नहीं कर रहे हैं। उनकी चर्चा अभी सुख-सुविधा के लिए चलती है। निम्न-वर्ग असुविधा से पीड़ित है और उच्च-वर्ग अशान्ति से।

शोषण और संग्रह का मूल्य

आज का संघर्ष अभाव और अति भाव का संघर्ष है। दोनों से बचकर चलने का मार्ग समभाव है। राजनीति की दृष्टि उत्पादन, वितरण और विनिमय से वैयक्तिक प्रभुत्व को समाप्त कर समभाव को फलित करना चाहती है। इसलिए उसके अनुसार समभाव सामूहिक सम्पत्ति पर आधारित है। संयम की दृष्टि इससे सर्वथा भिन्न है। वह समभाव को आत्म-निष्ठ मानती है। व्यक्ति-व्यक्ति में समभाव आये, उसमें प्राणिमात्र को आत्म-तुल्य समझने की भावना प्रबल बने, यह उसका अभिप्रेत है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण और उत्पीड़न इसलिए करता है कि उसकी भोग-वृत्ति चलती चले। और ऐसा वह तब तक करता है, जब तक उसके अन्तर् में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मिक समता की भावना नहीं जाग जाती। व्रत के दर्शन में रोग का मूल भोग-वृत्ति है, शोषण और संग्रह नहीं। जब तक भोग-वृत्ति न्यून नहीं होती है, तब तक न शोषण मिट सकता है और न संग्रह ही। शोषण और संग्रह दोनों भोग-लालसा की पूर्ति के लिए हैं। वह मिटती है, तब उनका कोई कारण ही शेष नहीं रहता। व्रती बनने के बाद इच्छाएं सीमित नहीं होतीं, बल्कि जब इच्छाएं सीमित हो जाती हैं, तभी व्यक्ति व्रती बनता है। व्रत की स्थिति बलवान् होती है, वहां अतिभाव नहीं होता। अतिभाव के बिना अभाव भी नहीं होता। इस प्रकार आत्मनिष्ठ समभाव से पदार्थाश्रित समभाव स्वयं फलित हो जाता है। अणुव्रत-आंदोलन का ध्येय है—आत्मिक समभाव की स्थापना हो।

पदार्थ पर आधारित समभाव सत्ता-निर्भर रहता है। सत्ता से नियंत्रित व्यक्ति जड़ बन जाता है। उसे संग्रह-त्याग में वह आनन्द नहीं आता, जो आत्म-नियमन करनेवाले व्रती को आ सकता है। आवश्यकता और पवित्रता दो अलग-अलग तत्त्व हैं। जीवन की आवश्यकताएं जो हैं, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु उनकी पूर्ति राज्य-सत्ता या उसकी समानान्तर शक्ति पर निर्भर है। अणुव्रत-आंदोलन व्रत-प्रधान है, इसलिए उसकी कार्यदिशा उससे भिन्न है। उसका सम्बन्ध जीवन की पवित्रता से है। आवश्यकता के अतिरेक अथवा परिस्थिति की जटिलता से जो बुराइयां बढ़ती हैं, उन्हें मिटाना, यह उसका उद्देश्य है। परिस्थितियां जब-कभी भी प्रतिकूल हो सकती हैं, किंतु उनके कारण व्यक्ति बुरा न बने—यह भावना है। यह तभी संभव है, जब मानव-समाज सादा, स्वावलंबी, श्रमप्रधान एवं सात्विक जीवन जीने का अभ्यासी बने।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. सत्य की साधना : सबसे बड़ी भक्ति

मानव ! तुम चाहते हो कि संसार में सत्युग आए, तब फिर सत्य की उपासना क्यों नहीं करते ? डर क्यों रहे हो ? वास्तव में ही यदि तुम्हारी चाह है तो तुम्हें सत्य की उपासना करनी ही पड़ेगी । इसके सिवाय इस चाह के पूरा होने का दूसरा कोई विकल्प नहीं है, उपाय नहीं है ।

तुम भक्त हो । अतः तुम भक्ति करना चाहते हो । पर यह क्यों नहीं सोचते कि सत्य से बढ़कर कोई दूसरा भगवान नहीं हो सकता । जब सत्य के रूप में तुम्हारे सामने साक्षात् भगवान खड़े हैं, तो उनकी उपासना क्यों नहीं करते ? उनकी भक्ति और पूजा क्यों नहीं करते ?

तुम अन्तर्दृष्टि से निहारो और इस यथार्थ का साक्षात्कार करो कि बहुत-सारे ग्रन्थों को पढ़ लेने वाला सही अर्थ में मेधावी नहीं है । वास्तव में मेधावी और पंडित वह है, जो सत्य की उपासना करता है । और ऐसा मेधावी ही आसानी से संसार के पार पहुंच सकता है । तुम कहने को तो यह उद्-घोषणा करते हो कि मुझे झूठ से चिढ है । पर जरा गहराई से सोचो, क्या यह वास्तविकता है ? कहीं तुम बिना तात्पर्य समझे तो ऐसी उद्-घोषणा नहीं कर रहे हो ? तुम इस बात को समझो कि सत्य की भक्ति, पूजा और उपासना का कार्य सहज नहीं है, बहुत कठिन है । उसमें अखूट आत्मशक्ति और एकान्त आत्मार्थीवृत्ति अपेक्षित होती है । थोड़ी-सी कमजोरी और स्वार्थ-भावना आई कि उपासना, पूजा और भक्ति सब समाप्त हो जाती है । भक्त कहलाने वाले भी बहुधा इसी कारण फिसल जाते हैं । फलतः मंजिल-प्राप्ति की उनकी ललक धरी-की धरी रह जाती है । सफल नहीं हो पाती । तुम्हें अपनी मंजिल को पाना है, इसलिए फिसलन से बचना होगा, कदम-कदम सावधानी रखनी होगी ।

तुम्हारी अवधारणा है कि सत्य का अनुसरण करने से कई बार हित के स्थान पर अहित हो जाता है । एक रूसी डॉक्टर ने कहा था—'मैंने अपने जीवन में गलती एक ही की है और वह यह कि मैंने अपनी गलती को मंजूर कर लिया ।' पर मैं तुम्हें आश्वस्त करना चाहता हूं कि वास्तविकता ऐसी नहीं है । इस पर भी तुम्हें विश्वास न हो तो तुम स्वयं परीक्षा कर देख लो । सत्य पर अडिग रहना, उसका अनुसरण करना एकांत हित की बात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उसका कभी अहित हो ही नहीं सकता।

तुम भक्त हो, इसलिए भक्ति करना तुम्हारा परम कर्तव्य है। जीवन और मृत्यु तो उसके सामने बहुत छोटी बातें हैं। क्या तुम्हें यह स्वीकार है? यदि 'हां' तो तुम पूर्ण निश्चितता एवं विश्वास के साथ भक्ति करो। तुम्हारी लक्ष्य-संसिद्धि असंदिग्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. अहिंसा : सबसे बड़ा विज्ञान

हम साधुओं को देखकर कुछ बौद्धिक लोग सोचा करते हैं कि ये किस पिछड़े युग के आदमी हैं ! आज वैज्ञानिक युग है। ये लोग अवैज्ञानिक पद्धति से चलनेवाले आज के युग में क्या करेंगे ! मैं सोचता हूं, वह विज्ञान आकर भी क्या करेगा, जो शाश्वत तत्त्वों को अवैज्ञानिक ठहराए। मेरी दृष्टि में सबसे बड़ा विज्ञान अहिंसा का सिद्धान्त है। **'अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया'**—अहिंसा से बढ़कर कोई विज्ञान न आया है और न आयेगा ही। जिसमें अहिंसा नहीं, वह विज्ञान नहीं। फिर तो उस विज्ञान का 'वि' हटकर उसके स्थान पर 'कु' या 'अ' लगेगा। अथवा उसकी यह प्रतिकूलार्थक व्युत्पत्ति करनी होगी—**'विगतं ज्ञानं यस्मात् तद् विज्ञानम्।'** अर्थात् जो ज्ञान वर्जित है, वह विज्ञान है। विशेष ज्ञान—विज्ञान वह है, जो जीवन को सही दिशा दे, जीवन को पवित्र और ऊंचा उठाए, अहिंसक जीवन जीना सिखाये। जिस विज्ञान में ये बातें नहीं, इससे विपरीत हों, वह विगत-ज्ञान होगा।

जीवन की परिभाषा

क्या मानव-जीवन हाड़-मांस का पुतला मात्र ही है ? क्या खाने-पीने, नहाने-धोने, बाल-बच्चों की पैदाइश, वृद्धि या पालन-पोषण को ही हम जीवन मानें ? ये काम तो एक पशु भी करता है। फिर पशु और मनुष्य में भेद क्या रहा ? ये सब, जिन्हें लोग वैज्ञानिक जीवन मानते हैं, सही अर्थ में वैज्ञानिक जीवन नहीं है। इस बाह्य भोग-सामग्री को प्राप्त करने और उसी में आप्लावित रहने को हमारे भारतीय दर्शन में नास्तिक जीवन, अधार्मिक जीवन और पाशविक जीवन कहकर पुकारा गया है।

मानव चेतन है। वह अपने आन्तरिक सौन्दर्य को देखे। यही एक तत्त्व सोचे कि मैंने कहीं ऐसा कार्य तो नहीं किया, जिससे किसी दूसरे प्राणी को पीड़ा हुई हो ? इसी का नाम तो अहिंसा है। वह कैसा जीवन, जो केवल अपने बारे में ही सोचे। केवल वैज्ञानिक चकाचौंध में चुंधिया जाना, भौतिकवादी बन जाना, भौतिक पदार्थों में ही रमे रहना, क्या कोई जीवन है। आज असली आन्तरिक जीवन का चिन्तन कम होता जा रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन के सही सिद्धान्त ह्रास पाते जा रहे हैं। इसलिए आज के प्रबुद्ध लोग चिन्तित हैं। वे कष्ट महसूस करते हैं—'हा! कष्टमापतितम्, हा! कष्टमापतितम्।'

यह बहुत बड़ा दुर्भिक्ष है। प्राणपण से इस दुर्भिक्ष को मिटाने का प्रयत्न होना चाहिए। देश में भोगवाद की बाढ़ आ रही है। लोग बेघरबार हो रहे हैं। ऐसी दशा में जरूरत है, उन्हें सहृदयता से सम्हाल लेने की, सहयोगी बनकर सहयोग करने की। इस ओर अणुव्रत-आन्दोलन का भी एक छोटा-सा प्रयास है।

एक तरफ भारतीय संस्कृति की गौरव गाथाएं गाई जाती हैं। हमारी संस्कृति सबसे अच्छी संस्कृति है, ऐसी है, वैसी है। दूसरी ओर वह प्रशस्त भारतीय संस्कृति दूसरी संस्कृति से आछन्न और आवृत है।

संस्कृति : दो प्रकार

वास्तव में तो संस्कृति के भेद-प्रभेद हो नहीं सकते। यह भारतीय संस्कृति है, यह अभारतीय संस्कृति है, ऐसा विभाजन हो ही नहीं सकता। संस्कृति का क्या भारतीय, क्या अभारतीय। तत्त्वतः संस्कृति का कैसा विभाजन। एक आकाश के दो टुकड़े हो सकते हैं क्या। अगर आप कहना ही चाहें तो कहें—मानवीय संस्कृति और अमानवीय संस्कृति अथवा अच्छी संस्कृति और बुरी संस्कृति। भारत में रहने वाले लोगों के अच्छे संस्कार ही तो सही अर्थ में भारतीय संस्कृति हो सकते हैं। भारतीय संस्कृति के माने होगा—ऊंची संस्कृति, त्याग की संस्कृति, संयम की संस्कृति और अध्यात्म की संस्कृति।

भारत आदर्श क्यों ?

आज भी भारत ने अणुबम तैयार नहीं किये। उद्जनबम भारत ने नहीं निकाले। विस्फोटक पदार्थ भारत ने नहीं खोजे। फिर भी भारत संसार के लिए आदर्श क्यों है? संसार भारत को आदर की दृष्टि से क्यों देखता है? क्या जनसंख्या ज्यादा है इसलिए? नहीं, जनसंख्या तो अन्य किसी देश में भी ज्यादा हो सकती है। भारत इस माने में सब राष्ट्रों का मान्य है कि यहां के नेता, भले वे धार्मिक हैं या नहीं भी हैं, विश्व के जिस-किसी भी भाग में पहुंचे हैं, वहां उन्होंने अहिंसा का बिगुल बजाया है।

सही अर्थ में संसार का प्रतिनिधित्व अगर कोई कर सकता है तो भारत ही कर सकता है। क्यों? इसलिए कि भारत की आत्मा में आज भी अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा है।

भारतीय संस्कृति का आदर्श

आज बेहिसाब हिंसा बढ़ रही है। लोक-जीवन बुराइयों से ओतप्रोत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता जा रहा है। जहां-कहीं देखें, लोगों की दृष्टि धनकुबेरों की ओर है। आत्मगुणों को महत्त्व देनेवाले आज पैसों के चरण छूते हैं। भारतीय संस्कृति में अपरिग्रह का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यहां के मानव का मस्तिष्क बड़े-से-बड़े सत्ताधीश और सम्राट् के चरणों में नहीं झुका, एक अकिंचन त्यागी के सामने झुका है। अनेक सम्राट् और धनाढ्य यहां आये, चले गये। आज कौन उन्हें याद करता है। पर उन सन्तों, तपस्वियों, त्यागियों और संन्यासियों को आज भी लोग आदर के साथ याद करते हैं, उनकी स्मृति करते हैं।

भारतीय ग्रन्थों से पता चलता है—हजारों नरेशों ने अपने राज्य, वैभव, सुख-सुविधा और भोगोपभोग को ठुकराकर अकांचन्य को स्वीकार किया। महाकवि कालिदास ने लिखा है—रघुवंशी नरेशों का जीवन-क्रम था—वे शैशव में विद्याभ्यास करते थे, यौवन में गृहस्थ रहते थे, उम्र पकने पर औदायित्व ग्रहण करते और अन्त में घर, परिवार, राज्य आदि सबका परित्याग कर योगानुसरण और अध्यात्म-साधना में अपने को लगा देते थे। आज लोग त्याग और संयम की बातों को भुलाते जा रहे हैं। उसी का यह दुष्परिणाम है कि जन-जीवन दुःखी और अशान्त है। यदि मनुष्य को सुख-शान्ति से जीना है, तो उसे त्याग और संयम का जीवन अपनाना होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. मैत्री का विचार आगे बढ़े*

संस्कृत भाषा का एक श्लोक है—

शंकास्थानसहस्राणि, भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि आज का जगत् मूढ है या पंडित ?

मूढ कैसे माना जाए, विज्ञान शिखर पर जो पहुंच रहा है। पंडित कैसे माना जाये, पग-पग पर हजारों आशंकाएं और सैकड़ों प्रकार के भय जो उसे सता रहे हैं। पर दोनों में से एक तो होना ही चाहिए। मूढ का अर्थ अज्ञानी नहीं है। जो मोह-ग्रस्त हो, उसे मूढ कहा जाता है। आज का मनुष्य अज्ञ नहीं है, किन्तु मूढ है। एक व्यक्ति के प्रति दूसरे व्यक्ति के मन में, एक वर्ग के प्रति दूसरे वर्ग के मन में और एक राष्ट्र के प्रति दूसरे राष्ट्र के मन में शंका और भय के भाव घिरे हुए हैं। विश्वास जैसे जनमा ही न हो, ऐसा लगता है। इस अविश्वास की भावना ने मैत्री-भाव को बहुत ही जटिल बना दिया है। प्रलय की कल्पना इसी भूमिका में पल रही है।

विश्वास का आधार है—मैत्री। मित्र से कोई भय नहीं होता। इसलिए अभय की भूमिका भी मैत्री है। जहां अभय है, विश्वास है, वहां शांति को कोई खतरा नहीं होता। शांति को खतरा मूढता से होता है। मूढता तब आती है, जब शक्ति, अधिकार और पदार्थ के लिए मानव-मन झूम उठता है। शक्ति, अधिकार और पदार्थ-संग्रह के प्रति आकर्षण बढता है, तब मूढ़ता छा जाती है—इस बात को पलट कर यों भी कहा जा सकता है कि मूढ आदमी सब कुछ कर सकता है।

मैत्री में मोह का पागलपन नहीं होता। इसलिए वह शक्ति, अधिकार और पदार्थ-संग्रह से परे होती है। मैत्री-दिवस का महत्त्व इसीलिए है कि मनुष्य निर्मोह बने, जनता और उसके नेता अमूढ बनें।

---

* मैत्री-दिवस पर प्रदत्त संदेश (कानपुर)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुव्रत-आन्दोलन आत्मा के चैतन्य-जागरण की दिशा है। उसका दिग्सूचक-यंत्र है--निर्मोह भाव। मोह का पर्दा हटे, मिथ्या धारणाओं और कल्पित भय की दीवारें फूटें, मनुष्य-मनुष्य के बीच कृत्रिम भेद न रहें--यह प्रयत्न हमें करना है। साथ ही सबको साथ लेकर चलना है। इसलिए आवश्यक है कि हम मैत्री के विचारों को आगे बढ़ायें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. संघर्ष कैसे मिटे ?

शान्ति का मार्ग

संघर्ष अशान्ति का मूल है। वह शान्ति के लिए हो, इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। शक्ति-संतुलन शान्ति के प्रयोग का क्षणिक उपशमन भले ही कर दे, किन्तु वह अकुतोभय शान्ति का मार्ग नहीं बनता। शान्ति का मार्ग संयम है। उसका दूसरा कोई विकल्प नहीं है। संयम यानी संकोच। बाहर की सारी वस्तुओं से हटकर अपने-आप में चला जाना—यह संकोच का व्यापक रूप है। यह बहुत अगले सिरे की बात है। लोग दूसरों की सीमा में घुसे जा रहे हैं, अधिकार हड़प रहे हैं। वे वहां से हटें और नया मोड़ लें, यह आज की अनिवार्य अपेक्षा है। अगर ऐसा नहीं हुआ तो संभव है, स्थितियां सुलझने की अपेक्षा और अधिक उलझ जाएं।

अपेक्षित है रोग का सही निदान

विश्व की स्थितियां उलझी हुई हैं, यह स्पष्ट है। उन्हें सुलझाने के प्रयत्न चल रहे हैं, यह भी बहुत स्पष्ट है। किन्तु कोरे स्थितियों को सुलझाने के प्रयत्न सफल कैसे होंगे। उनके पीछे एक मनोभाव है। वही सारी स्थितियों को जन्म देता है। उसके बदले बिना स्थितियों के जटिल होने का स्रोत कैसे रुकेगा। रोग का सही निदान किया जाए तो परिस्थितियों को बदलने से पहले मनोभाव को बदलने की बात आती है। पहले जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के अनुकूल परिस्थिति या पहले संयम का वातावरण? यह प्रश्न सहज उद्भूत नहीं है। संयम का प्रश्न मानसिक जगत् से उत्पन्न परिस्थितियों से जुड़ता है। ये जितने राजनीतिकवाद हैं, उन्हें मैं असंयम की प्रतिक्रिया मानता हूं। असंयम और उसका हिंसात्मक प्रतिकार—ये दोनों अच्छे नहीं हैं। किन्तु संयम प्रतिकार लाता है, यह बहुत बड़ा सत्य है। सारे विस्तार का संक्षेप इतने में है कि असंयम न बढ़े।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९. व्यवहार में अहिंसा और सत्य की उपादेयता

मेरा पुष्ट अभिमत है कि सत्य के बिना मनुष्य का व्यवहार चल ही नहीं सकता। दिन में वह ज्यादा सत्य ही बोलता है। उसकी तुलना में असत्य तो बहुत ही कम। फिर जितना असत्य बोलता है, उससे भी समस्याएं सुलझती हैं, ऐसी बात नहीं है। मात्र क्षणिक रूप में उसे ऐसा होने का आभास होता है कि उसका काम निकल गया। पर वस्तुतः अपनी झूठ के कारण ही उसे सारी परेशानियां उठानी पड़ती हैं। यदि मनुष्य उस थोड़े-से असत्य को भी छोड़ दे तो मैं समझता हूं कि उसके दुःखी होने का कोई कारण ही नहीं रह जाएगा। आजकल यह एक जो प्रवाह चल पड़ा है कि बिना असत्य के काम चल ही नहीं सकता, वह मिथ्या ही नहीं, घातक भी है। आप एक दिन प्रयोग के स्तर पर देखें कि दिनभर में कितनी बार असत्य बोलते हैं। मेरे ख्याल से वह संख्या बहुत ही कम होगी। अपनी माता को कौन माता नहीं कहेगा। अपना नाम कौन गलत बताएगा। पुस्तक को कौन नहीं पुस्तक कहेगा। खाने की चीज को कौन नहीं खाने की बताएगा। इस प्रकार अधिकांशतः वह सत्य ही बोलता है। यदि मनुष्य अपने घर में झूठ बोलने लग जाए तो परिवार नाम की कोई चीज ही नहीं रह जाएगी। समाज का आधार भी तो आखिर सत्य है। यदि मानव-समाज में सत्य नहीं रहे तो समाज कभी का छिन्न-भिन्न हो जाएगा। इसी प्रकार राष्ट्र की स्थिति का कारण भी सत्य ही है। वही राष्ट्र समुन्नत होगा, जहां के निवासी झूठ नहीं बोलते। यही स्थिति अहिंसा की है। परिवार, समाज, राष्ट्र और अनन्त विश्व सभी अहिंसा के आधार पर ही चलते हैं। अतः सत्य और अहिंसा केवल आध्यात्मिक तत्त्व ही नहीं हैं, दैनिक व्यवहार में भी उनकी नितान्त आवश्यकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०. योग से अयोग की ओर

क्रिया-अक्रिया

नत्थि किरिया अकिरिया वा नेव सन्नं निवेसए ।
अत्थि किरिया अकिरिया वा एव सन्नं निवेसए ॥

ऐसा मत सोचो कि क्रिया-अक्रिया नहीं हैं। पर ऐसा सोचो कि क्रिया है, अक्रिया भी है। सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा सर्वव्यापक है। अतः उसमें कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। भरे मकान में घूमने-फिरने का स्थान कहां। बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा क्षणिक है। अतः वह व्यवस्थित क्रिया कर नहीं सकती। पर जैन दर्शन के अनुसार क्रिया भी है, अक्रिया भी है।

शुभ योग त्याज्य है ?

तत्वतः अक्रियत्व का स्थान बहुत ऊंचा है। लोग तो कहते हैं कि निष्क्रिय मत बनो। पर इसके विपरीत जैन दर्शन कहता है कि अक्रिय बनने के लिए पुरुषार्थ करो। हीरे से हीरा कटता है। वैसे ही अक्रिया की साधना से व्यक्ति अक्रिय बनता हैं। पांच संवर अक्रियता हैं। छठे-सातवें गुणस्थान में साधुओं के सम्यक्त्व और व्रत संवर तो हैं ही, कभी-कभी अप्रमाद संवर भी होता है। अकषाय संवर नहीं होता। अयोग संवर अंशतः होता है। जितना भी शुभ योग का त्याग है, वह अयोग संवर का अंश है। साधुओं का खान-पान, हलन-चलन, उठना-बैठना आदि सभी प्रवृत्तियां शुभ योग हैं। इनका त्याग पाप का त्याग नहीं, अयोग संवर का अंश है। जैसे अभी एक साधु (मुनिश्री सुखलालजी) ने ८१ दिन तक पानी का त्याग किया। क्या पानी पीना पाप था ? नहीं, बिलकुल नहीं। पर यह विशेष साधना है। अतः जैनदर्शन का कहना है कि निष्क्रिय बनो। शुभ योग का भी त्याग करो। परन्तु अशुभ योग से नहीं, बल्कि अक्रियत्व के द्वारा। इसी तरह श्रावक के भी संवरांश हो सकता है। वह भी यदि कुछ शुभ प्रवृत्तियों का त्याग करता है तो उसके भी आंशिक अयोग संवर क्यों नहीं होगा। उसके भी कुछ स्थिरता जो होती है। आचार्य भिक्षु ने उसको अयोग संवर की बानगी माना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवृत्ति का आनन्द प्रवृत्ति में कहां

तेरहवें गुणस्थान में आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन जाती है। पर सर्वथा अक्रिय नहीं बनती। क्रमशः मन, वचन और काययोग को रोकती है, फिर चवदहवें गुणस्थान में आते ही सर्वथा अयोग हो जाती है। 'अयोग' शब्द के दो अर्थ होते हैं। नालायक को भी अजोग (अयोग) कहते हैं और स्थिर को भी प्राकृत में अयोग कहते हैं। संस्कृत में इनके दो शब्द बन जाते हैं— अयोग्य, अयोग। प्राकृत में एक शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं। जैसे—अप्प। यह एक शब्द ही आत्म, अल्प और अभाव- इन तीनों अर्थों में व्यवहृत होता है। इसी तरह यहां अयोग का अर्थ स्थिरता है।

अयोग/निष्क्रियता में जो आनन्द है, वह सक्रियता में नहीं हो सकता। मौन में जो आनन्द है, वह बोलने में कैसे हो सकता है। मैं मौन किया करता हूं। हालांकि मर्यादा-महोत्सव की कार्य-व्यस्तता के कारण वह क्रम आजकल छूट-सा गया है। पर इससे मैं कोई भार महसूस करता होऊं, ऐसी बात बिलकुल भी नहीं है। यह तो मेरा कर्तव्य है और अपने कर्तव्य-पालन में भार कैसा, बल्कि यह तो मेरे लिए आत्म-तोष का विषय है। यदि कर्तव्य-पालन नहीं करूं तो क्या कर्तव्य से च्युत नहीं हो जाऊंगा। फिर भी अपने अनुभव के स्तर पर यह निश्चित रूप में कह सकता हूं कि मौन का आनन्द बोलने के आनन्द से कहीं ऊंचा है। अतः सबको अक्रिय रहने की साधना भी करनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१. व्यक्ति का नहीं, गुण का महत्व है

जैन-दर्शन व्यक्तिविशेष का दर्शन नहीं है। यह निर्ग्रंथों का दर्शन है। जो भी आत्म-विजेता है, उसका दर्शन है। जिसने मन की ग्रन्थि को नष्ट कर दिया है, जिसमें संपूर्ण/उत्कृष्ट सरलता, समता और अपरिग्रहता रहती है, उसका दर्शन है। यहां व्यक्ति की प्रधानता नहीं, गुण की प्रधानता है। इसलिये जैन-धर्म के सर्वोत्कृष्ट मंत्र 'नमोक्कार मंत्र' में किसी व्यक्तिविशेष को नमस्कार नहीं किया गया है, अपितु गुणों को ही नमस्कार किया गया है। व्यक्ति आज सत्य पर है, कल न जाने वह क्या हो जाए। इसलिए व्यक्ति का महत्व नहीं, गुणों का महत्व है।

'नमोक्कार मंत्र' में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—इन पांचों को नमस्कार किया गया है। दिल्ली में एक भाई ने मुझ से प्रश्न किया —'क्या आपके संघ के साधु ही सुपात्र हैं और शेष कुपात्र ?' मैंने उत्तर दिया —'क्या कोई ऐसे कह सकता है। मेरी मान्यता तो यह है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चरित्र का धारक साधु दान के लिए सुपात्र है, भले वह किसी भी सम्प्रदाय का साधु क्यों न हो।'

जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में अच्छाई और बुराई दोनों ही रहती हैं। कोई व्यक्ति एकांततः बुरा होता है या अच्छा होता है, ऐसी भाषा जैन-दर्शन को मान्य नहीं है। घोर मिथ्यादृष्टि में भी सम्यक्त्व का अंश रहता है। अतः वह एकांत बुरा ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कुछ व्यक्ति अपने से अतिरिक्त अशेष लोगों को बुरा नहीं मानते हैं। अपने समर्थन में वे कबीर के निम्नोक्त दोहे को उद्धृत करते हैं—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

पर यह व्यावहारिक सत्य है। निश्चय दृष्टि में तो प्रत्येक व्यक्ति में बुराइयां भी रहती हैं। यह सत्य है कि हमें उनकी ओर नहीं देखना चाहिए। हमें तो गुणों की ओर ही देखना चाहिए। पर गुण-दोष का विवेक होना आवश्यक है। कुछ लोग साधुओं को देखकर झट उनके सामने झुक जाते हैं। उन्होंने घर जो छोड़ दिया है। पर यह ऐकान्तिक सत्य नहीं है। भगवान महावीर ने कहा—'कुछ साधुओं से गृहस्थ भी श्रेष्ठ होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं।' इसका अर्थ यही है कि साधु-वेष धारण करने मात्र से ही साधुता नहीं आ जाती। वह तो आचरण से आती है। साधु होकर भी यदि कोई साधुत्व का सम्यग् पालन नहीं करता है तो वह दम्भ है। उससे तो वह गृहस्थ भी श्रेष्ठ है, जो अपनी मर्यादा का सम्यग् पालना करता है। आचार्य भिक्षु स्वामी ने इस बात को एक बड़े सुन्दर उदाहरण से समझाया है। उन्होंने कहा है—एक व्यक्ति उपवास करता है और उसको और पूर्णरूप से निभाता है। दूसरा पंचोला (पांच दिन का लगातार व्रत) करता है। परंतु उसमें दूसरे और चौथे दिन भोजन कर लेता है। पूछने पर पंचोला कहता है। तत्व-दृष्टि से दोनों में उपवास करने वाला श्रेष्ठ है। क्यों? इसलिए कि उसने जितना नियम लिया था, उसका पूर्ण रूप से पालन किया। दूसरा कहने को पंचोला कहता है, परन्तु बीच में उसे दो बार तोड़ने से वह व्रत-भंग का दोषी बन गया।

सार-संक्षेप यह कि व्रतों को पालने वाला महान् होता है, न कि अधिक लेने वाला। जैनदर्शन में गुणों की पूजा होती है, व्यक्ति या जाति-विशेष की नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२. पसीने की कमाई

यह बहुत स्पष्ट है कि अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से हमें प्रसिद्धि मिली है, लाखों-लाखों लोगों की आत्मीयता मिली है, नैकट्य मिला है। कभी-कभी मन में विचार उठता है, यह ख्याति कहीं बिना पसीने की तो कमाई नहीं है? बिना पसीने की कमाई किस काम की। पर तभी अन्दर से आवाज आती है—नहीं, ऐसी बात नहीं है। मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूं कि संघ के साधु-साध्वियां रात-दिन कठिन श्रम कर इस कार्यक्रम का प्रसार कर रहे हैं। अनेक कार्यकर्ता भी इस अभियान को आगे-से-आगे बढ़ाने के लिए अनवरत परिश्रम कर रहे हैं। मेरा व्यक्तिगत काफी समय भी इस कार्य में लगता है। कभी-कभी तो आवश्यक कार्यों के अतिरिक्त सुबह चार बजे से रात्रि के दस-ग्यारह बजे तक का सारा-का-सारा समय इसी काम में लगता है। और बड़ी बात यह है कि यह कार्य करते हुए मुझे सहज आनन्दानुभूति होती है। कभी भार महसूस नहीं होता। मैं तो बहुत बार ऐसा सोचता हूं कि इससे बढ़कर समय का और क्या सदुपयोग हो सकता है। फिर यह बिना पसीने की कमाई कैसी। इतने परिश्रम के बाद यदि सहज रूप से हमें प्रसिद्ध मिलती है तो मिलती है। उससे हमारा विरोध क्यों हो। हां, उसमें हमारी आकांक्षा नहीं होनी चाहिए। उसमें लिप्तता नहीं होनी चाहिए। कमल कीचड़ में पैदा होता है, पर उसमें किंचित् भी लिप्त नहीं होता। ठीक इसी प्रकार ख्याति प्राप्त होने पर हमें निर्लिप्त रहना है। मेरे प्रशंसकों से मैं कहना चाहता हूं कि वे इस बात को समझें कि मैंने अणुव्रत कोई नया नहीं चलाया है। यह तो अहिंसा, सत्य आदि शाश्वत तत्त्वों का ही एक युगीन संस्करण है। मैंने तो मात्र उन्हें नए ढंग से प्रस्तुति देकर उनको स्वीकार करने की अभिप्रेरणा दी है। अतः एक प्रेरक से अधिक का श्रेय मुझे नहीं मिलना चाहिए। आप इसकी आचार-संहिता को स्वीकार कर स्वयं ही श्रेय के भागी बनें। इससे आपके जीवन को सुख और शान्ति से जीने का वरदान मिलेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३. कौन होता है सच्चा ज्ञानी ?

आयारो की अर्हत्-वाणी है—

जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति, से आयवं णाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं। अर्थात् जिसके पास शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श आकर वापस चले जाते हैं, वह आत्मवान् है, ज्ञानवान् है, वेदनवान् है, धर्मवान् है और ब्रह्मवान् है।

आत्मवान् कौन ?

आगम की इस परिभाषा के अनुसार आत्मवान्—चेतन वह है, जो विजातीय तत्त्वों में लुब्ध नहीं होता। वैसे ऐसा कौन-सा प्राणी है, जो चेतन नहीं है। मूलतः इस कथन के पीछे एक विवक्षा है, उसे हमें समझना होगा। इसके पीछे ही क्यों, हमारे हर कथन के पीछे कोई-न-कोई विवक्षा जुड़ी रहती है। उस विवक्षा को समझने से ही उस कथन का सही-सही अर्थ किया जा सकता है। राजर्षि भर्तृहरि ने कहा—**'साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।'** जो व्यक्ति साहित्य और संगीतकला से हीन है, वह मनुष्य होकर भी बिना पूंछ और सींग का पशु ही है। क्या कोई मनुष्य भी पशु हो सकता है ? कदापि नहीं। यह तो कहने की एक विवक्षा है। ठीक इसी प्रकार वह मनुष्य चेतन नहीं है, जो काम-गुणों में लुब्ध बन जाता है। काम-गुण उस पर अधिकार जमा लें, इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह जड़ का दास हो गया। चेतन कहां रहा। इसलिए हमारे शास्त्रों में चेतन उसे ही माना गया है, जो शब्दादि विषयों में आसक्त नहीं होता, काम-गुणों में लुब्ध नहीं होता।

.....वही ज्ञानी है

आज की भाषा में ज्ञानवान् वह है, जो पढ़ा-लिखा है, जिसने बी. ए., एम. ए. और साहित्यरत्न की डिग्रियां प्राप्त कर ली है। परन्तु शास्त्रों की दृष्टि इससे बिल्कुल भिन्न है। वहां तो ज्ञानवान् उसे कहा गया है, जो विरक्त है। पर विरक्त का अर्थ सही ढंग से समझना अपेक्षित है। भोग-सामग्री की अनुपलब्धता की स्थिति में कौन विरक्त नहीं बन जाता। दांत गिर जाने के पश्चात् सुपारी चबाना कौन नहीं छोड़ेगा। पर यह वास्तविक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरक्ति नहीं है। यदि ऐसा होता तो सबसे ज्यादा विरक्त वे लोग होते, जो जेलों की सीखचों के पीछे पड़े हैं। लेकिन उनको विरक्त नहीं माना जा सकता। शास्त्रीय दृष्टि में विरक्त वह है, जो प्राप्त भोगों को स्ववशता में ठुकरा देता है। और जो विरक्त है, वही ज्ञानी है। इस परिभाषा के अनुरूप ही ज्ञानियों से अपेक्षा है। मैं पूछना चाहता हूं, ज्ञानी कहलाकर भी जो अधिक-से-अधिक भोगों को प्राप्त करने की कोशिश करते हैं, क्या वे अज्ञानी नहीं हैं? मैं मानता हूं, जो असंयम आज मानव-समाज में प्रसार पा रहा है, वह उसके लिए एक शर्म की बात है। पशु भी अपने भोग की एक सीमा रखते हैं। पर मनुष्य ने तो प्राकृतिक सीमाओं का भी अतिक्रमण कर दिया है। पढ़ाई-लिखाई के क्षेत्र में वह बहुत आगे बढ़ा है। अपने पराक्रम से उसने प्रकृति को भी एक सीमा तक अपने वश में कर लिया है। पर यह कैसी विडम्बना है कि वह स्वयं पर नियंत्रण नहीं कर पा रहा है! क्रोध, लोभ, तृष्णा आदि का गुलाम बन रहा है।

शांति का मार्ग

शांति का प्रश्न सार्वजनिक है। प्रश्न है, मनुष्य शान्ति को प्राप्त कैसे करे? वह मनुष्य, जिसने सात समुद्रों का पानी पी लिया है, सारी नदियों और नहरों का पानी पी लिया है, सारे कुओं और तालाबों का पानी पी लिया है, अब यदि वह कपड़े में रहे बूंद-बूंद पानी को निचोड़-निचोड़ कर पी रहा हो तो क्या उसकी प्यास बुझ सकेगी। अग्नि में घी डालने से क्या वह शांत हो सकेगी। ठीक इसी प्रकार भोगों को भोगकर शांति पाना असंभव है। आज मनुष्य की स्थिति किससे छुपी है। वह जड़ पदार्थों का कायल हो रहा है। मानना चाहिए, यह प्रकृति की उस पर विजय है।

अर्थ का बढ़ता प्रभाव

आज मनुष्य पर अर्थ का आधिपत्य हो रहा है। क्या यह उसके अज्ञान की ओर इंगित नहीं करता। समाज और राजनीति पर तो अर्थ प्रभावी है ही, आज वह धर्म और भगवान पर भी अपना आधिपत्य जमाने की कोशिश में है। कैसा आश्चर्य है कि भगवान का नाम लेने के लिए भी मजदूर खरीदे जाते हैं। नाम लेते हैं मजदूर और फल होता है श्रीमान् को! यह धर्म और भगवान पर अर्थ का आधिपत्य नहीं है तो और क्या है। तत्त्वतः यह अज्ञान का ही परिणाम है। वस्तुतः ज्ञानी पुरुष कभी भी ऐसा कार्य नहीं कर सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कौन होता है शास्त्रज्ञ ?

वह वेदवान् है, जो शब्द, रूप आदि विषयों में लिप्त नहीं होता। भौतिक सुखों में आसक्त होने वाला वेदवान् नहीं हो सकता। वेद यानी शास्त्र, वह साहित्य, जिससे जीवन को उत्प्रेरणा मिले। इस विवक्षा से वेद कोई शास्त्रविशेष नहीं रह जाता। समग्र जीवन-प्रेरक साहित्य वेद ही है। आगम-साहित्य भी फिर इसी के अन्तर्गत आ जाता है। अतः इस कोटि के साहित्य को जानने वाला और उसके तत्त्वों को जीवनगत बनाने वाला ही वेदवान् है। चम्मच पदार्थ में सबसे पहले अपना मुंह लगाता है। पर क्या वह कभी उसके स्वाद को जान पाता है। इसी प्रकार केवल शास्त्रों को पढ़ लेने मात्र से कोई विद्वान् नहीं बन जाता। इसीलिए तो कहा गया है—

शास्त्रावगाहपरिवर्तनतत्परोपि, नैवं बुधः समधिगच्छति वस्तुतत्त्वम्।
नानास्वभावरसभावगतापि दर्वी, स्वादं रसस्य सुचिरादपि नैव वेत्ति॥

अपेक्षा है, व्यक्ति शास्त्रीय विवक्षा के अनुरूप सच्चा आत्मवान् ज्ञानवान् और शास्त्रज्ञ बने। इसी में उसके जीवन की सच्ची सार्थकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४. समो निंदा पसंसासु

कांटों का ताज

अणुव्रत-आन्दोलन हमारी प्रसिद्धि में बहुत बड़ा निमित्त बना है, यह एक निर्विवाद बात है। पर इस प्रसिद्धि के साथ ही हमारा दायित्व भी कम नहीं बढा है, यह भी मैं अनुभव कर रहा हूं। पिछले दिनों **राष्ट्रपति भवन** में राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद से हमारा वार्तालाप हुआ। उस वार्तालाप के दौरान उन्होंने अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यक्रम की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। स्थान पर लौटने के पश्चात् मैंने अपने संतों से कहा—'वस्तुतः यह हमारी प्रशंसा नहीं, बल्कि इस बहाने हमारे पर एक बहुत बड़ी जिम्मेवारी आई है। राष्ट्र का प्रथम नागरिक हमसे बहुत बड़ी अपेक्षा/आशा करता है। अब यदि हम उसके अनुरूप नहीं निकले तो हमारे लिए बहुत सोचने की बात हो जाएगी।' सचमुच प्रशंसा कांटों का ताज है। जिस व्यक्ति के सिर पर यह ताज रखा जाता है, उसे बहुत सोच-समझकर चलना पड़ता है।

कार्य के साथ नाम होना एक स्वाभाविक बात है। उसको रोका नहीं जा सकता। और रोकने की वैसे जरूरत भी नहीं है। जरूरत बस इस बात की है कि साधक स्वयं उसकी तनिक भी आकांक्षा न करे। वह उसमें लिप्त न हो। उसको सुनकर मन में फूले नहीं, समभाव में स्थित रहे।

गुणीजनों की प्रमोद-भाव से प्रशंसा करना व्यक्ति के लिए श्रेय-पथ है। स्वयं भगवान महावीर ने उसको कल्याण का मार्ग बताया है। पर जिसकी प्रशंसा की जाती है, उसके लिए यह एक खतरा है, फिसलनभरी राह है। इसलिए व्यक्ति को कदम-कदम पर सावधान रहना होता है। जरा-सी भी गफलत बड़े-से-बड़े अनिष्ट का कारण बन सकती है। प्रशंसा सुनकर यदि व्यक्ति उसमें लुब्ध बन जाता है, अहंकारग्रस्त हो जाता है, तो उसका पतन अवश्यंभावी है। बहुत-सारे व्यक्ति आलोचना के क्षणों में तटस्थ रह जाते हैं, पर प्रशंसा को तटस्थ-भाव से नहीं सुन पाते। इसी कारण इसे एक अनुकूल परीषह माना गया है। अतः साधक को इस बारे में अत्यधिक जागरूक रहने की अपेक्षा है।

बहुत-से लोग ऐसा भी कहते हैं कि जब प्रशंसा सुनना एक खतरा है तो उसको सुना ही क्यों जाता है। इस सन्दर्भ में मेरा अभिमत यह है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशंसा करना और सुनना—दोनों ही दोष नहीं हैं। दोष है—उसमें आसक्त होना। स्थानांग सूत्र में कहा गया है—आत्मवान् की प्रशंसा करना तो उसके हित का कारण हो जाता है और अनात्मवान् की प्रशंसा करना उसके अहित का कारण। आत्मवान् यदि अपनी प्रशंसा सुनता है तो वह उसमें आसक्त नहीं होता, बल्कि उसके अन्तर् में अपनी साधना के प्रति, अपने कार्य के प्रति एक आत्मविश्वास पैदा होता है। वह अपने ऊपर अच्छे बने रहने, अच्छा कार्य करने की नैतिक जिम्मेवारी समझने लगता है। वह बराबर सोचता है, कहीं ऐसा न हो जाए कि मैं प्रशंसा करनेवालों की अपेक्षा के अयोग्य निकल जाऊं। इसलिए मुझे सदैव अप्रमत्त रहना चाहिए। इस चिंतन के साथ वह अपनी साधना-आराधना में पहले से ज्यादा जागरूक बन जाता है। नए उत्साह और संकल्प के साथ अपने कर्तव्य एवं कार्य में केन्द्रित हो जाता है।

आलोचना आत्मालोचन की प्रेरणा है

आलोचना और विरोध के संदर्भ में भी तो यही बात है। साधक आलोचना और विरोध में भी समत्व में अवस्थित रहने का प्रयास करे। उसे सुन-देखकर रोष-आक्रोश तो करे ही नहीं, मन में हीन भावना भी न लाए। अपने को दीन-क्षीण भी न समझे। कोई माने या न माने, पर यह एक यथार्थ है कि मुझे आलोचना सुनने में बड़ा आनन्द मिलता है। इससे मुझे अपना आत्म-निरीक्षण करने का अवसर मिलता है। अपनी कमजोरी और प्रमाद को देखने का अवसर प्राप्त होता है। यदि व्यक्ति केवल अपनी प्रशंसा-ही-प्रशंसा सुनता रहता है तो उसके आत्म-निरीक्षण की संभावना क्षीणप्रायः रहती है। मैं अपने मन की बात सुनाता हूं—कभी-कभी लम्बे समय तक जब मैं अपनी आलोचना नहीं सुनता हूं तो मन में चिंतन उभरता है—क्या बात है? कहीं मैं किसी गलती पर तो नहीं चला जा रहा हूं? कालान्तर में जब कहीं से थोड़ी-बहुत आलोचना का स्वर सुनता हूं तो आत्मालोचन का अवसर उपलब्ध हो जाता है और मैं अपनी वास्तविक स्थिति से परिचित हो जाता हूं। कहीं कोई प्रमाद हो रहा था तो मेरे ख्याल में आ जाता है और मैं उसको मिटाने के लिए जागरूक बन जाता हूं।

प्रसंग बम्बई का

यद्यपि अपनी आलोचना सुनना बहुत-सारे लोगों को अप्रिय और अरुचिकर लग सकता है, पर गहराई से देखा जाए तो वह उसके लिए श्रेयस्कर ही है। बम्बई का प्रसंग है। एक दिन एक आलोचक व्यक्ति मेरे पास आया। मैंने उससे कहा—'भाई! आलोचना से तुम्हारा लाभ होता है या नहीं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह तो मैं नहीं कह सकता, पर ऐसा कर तुम हमारा तो निश्चय ही उपकार करते हो। तुम्हारी आलोचना सुन-सुनकर हमें तो आत्म-निरीक्षण का अवसर मिल ही जाता है। हां, एक बात अवश्य है। मुझे इस बात की चिन्ता है कि तुम इस प्रवृत्ति के द्वारा कहीं अपना नुकसान न कर बैठो।'

मैं मानता हूं, यदि तटस्थ दृष्टि से दोष-दर्शन और आलोचना होती है तो कोई अनुचित बात नहीं है। मैं तो स्वयं दोषदर्शी हूं। जब-कभी कोई साधु मेरे पास कुछ लिखकर लाता है, तो जाने क्यों मेरी दृष्टि सबसे पहले उसमें रही गलतियों पर जाती है और मैं उनकी ओर उसका ध्यान आकर्षित करता हूं। पर यह कार्य मैं द्वेष-बुद्धि से नहीं, कर्तव्य एवं दायित्व-बुद्धि से करता हूं, तटस्थ दृष्टि से करता हूं। इसलिए मैं इसमें किसी प्रकार की बुराई नहीं देखता, बल्कि आवश्यक मानता हूं। अन्यथा सुधार/परिमार्जन कैसे होगा। मैं सोचता हूं, व्यक्ति की यह सहज वृत्ति होनी चाहिए कि जब-कभी किसी की गलती उसके ख्याल में आए तो वह अवसर देखकर एकान्त हित-बुद्धि से उसके सामने रख दे। इससे उसका लाभ ही होगा। उसको अपनी भूल को समझने का मौका मिलेगा। बहुत संभव है, वह उससे उपरत होने के लिए जागरूक बनेगा। यों तो सबकी मनोवृत्ति एक जैसी नहीं होती, इसलिए सबके बारे में निश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता, पर मेरी मनोवृत्ति यह है कि जब कोई मेरे पास मेरी आलोचना लेकर आता है, मेरी भूल बताता है तो मुझे आंतरिक प्रसन्नता होती है। मेरे हितैषी के रूप में मैं उसका हार्दिक स्वागत करता हूं।

मूलभूत बात यह है कि साधक हर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में सम रहे, अपना संतुलन न खोए। इसी में उसकी साधना सुरक्षित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५. संकीर्णता और विशालता

उनका आभारी हूं

आजकल व्यापकता की चर्चा बहुत है। चर्चा बुरी नहीं है, बल्कि अच्छी है। पर कठिनाई यह है कि लोग इसे सही संदर्भ में नहीं समझते। प्रवाह में बह जाते हैं। मैं मानता हूं, यह एक प्रकार का व्यामोह है, जो उचित नहीं है। कुछ लोग मेरे बारे में भी ऐसा मानते हैं कि मैं एक संकीर्ण दायरे में हूं। उनका चिंतन है कि मैं उसे छोड़कर बाहर आ जाऊं। मैं उनकी इस भावना के लिए आभारी हूं कि वे मुझे बहुत व्यापक भूमिका में देखना चाहते हैं, संकीर्ण दायरे में देखना नहीं चाहते। पर मैं उनसे कहना चाहता हूं कि वे पहले वास्तविकता को समझें। वे जिसे संकुचित दायरा समझते हैं, वह वास्तव में संकुचित दायरा है नहीं। यदि मुझे ऐसा अनुभव हो जाए कि वह संकुचित दायरा है तो मैं आज ही उसे तोड़ डालूं। इसमें मुझे तनिक भी हिचकिचाहट या संकोच नहीं होगा। पर क्या करूं, अभी तक मुझे ऐसा किंचित् भी अनुभव नहीं हो रहा है।

संकीर्णता की परिभाषा

इस संदर्भ में मेरा चिंतन यह है कि किसी समाज या सम्प्रदायविशेष में रहने मात्र से व्यक्ति संकीर्ण नहीं बन जाता। हां, जो व्यक्ति इसमें संकीर्णता के दर्शन करता है, उसकी संकीर्णता अवश्य प्रगट होती है। व्यक्ति कहीं-न-कहीं तो रहेगा ही। वस्तुतः संकीर्णता स्थान से नहीं, हृदय से आती है। यदि व्यक्ति का हृदय संकुचित है, तो वह कहने के लिए चाहे कितने भी विशाल दायरे में क्यों न रहे, विश्व-बंधुत्व व 'वसुधैव कुटुंबकम्' की बातें क्यों न करे, उसका दायरा विशाल नहीं बन सकता। इसके विपरीत यदि हृदय में उदारता है, विचार व्यापक हैं, दृष्टिकोण असंकीर्ण है तो कहीं भी रहकर वह व्यापक दायरे में ही है। इस परिप्रेक्ष्य में मैं पूछना चाहता हूं, किसी समाज और सम्प्रदायविशेष में रहने मात्र से मेरे पर संकीर्णता आरोपित करना कहां तक न्यायोचित है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेरापंथ और सत्य-दर्शन

समाज या सम्प्रदाय को मैं एक दूरवीक्षण की तरह मानता हूं। जिस प्रकार दूरवीक्षण यंत्र से व्यक्ति बहुत दूर की चीज देख सकता है, उसी प्रकार एक समाज, संघ या सम्प्रदायविशेष में रह कर भी व्यक्ति दूर-दूर तक बिखरे सत्य से साक्षात्कार कर सकता है। मैं आप से ही पूछना चाहता हूं, क्या दूरवीक्षण यंत्र कोई बहुत लम्बा-चौड़ा यंत्र है? आपके उत्तर के बिना ही यह बहुत स्पष्ट है, वह कोई लम्बा-चौड़ा यंत्र नहीं है। बहुत छोटा-सा यंत्र है, संकीर्ण यंत्र है। पर उससे जितना स्पष्ट देखा जा सकता है, उतना कोरी आंखों से भी नहीं देखा जा सकता। अतः किसी समाज या सम्प्रदायविशेष में रहने मात्र से व्यक्ति को संकीर्ण या संकुचित नहीं मानना चाहिए, जबकि उसके विचार उदार हैं, दृष्टिकोण व्यापक है, असाम्प्रदायिक है। मैं तेरापंथ-समाज और संघ से सम्बन्धित हूं, उसकी सीमाओं में रहता हूं। पर सत्य को देखने और समझने के लिए सदा सावकाश हूं। तेरापंथ संघ या सम्प्रदाय की सीमाएं मेरे सत्य-दर्शन में कहीं बाधक नहीं हैं। इसलिए मैं सबसे कहना चाहता हूं कि व्यापकता को सही सन्दर्भ में देखें, सही रूप में समझें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६. उपदेश करना हमारा कर्तव्य है

लोग अवश्य सुनेंगे

मैं प्रतिदिन प्रवचन करता हूं, उपदेश देता हूं। पर उपदेश देना मेरा कर्तव्य मात्र है, व्यवसाय नहीं। कर्तव्य और व्यवसाय में एक मौलिक अन्तर है। व्यवसाय करना पड़ता है, जबकि कर्तव्य आत्म-प्रेरणा से सहज किया जाता है। मैं नहीं समझता, बिना कर्तव्य-पालन के व्यक्ति को तोष कैसे मिल सकता है। चैन कैसे पड़ सकता है। अतः भले ही लोग कम आएं या बिलकुल ही कम आएं, पर कर्तव्य-बोध का भाव साधक को प्रवचन करने की बराबर प्रेरणा देता है। इसलिए आप लोग सुनेंगे तो भी बोलूंगा और नहीं सुनेंगे तो भी मुझे तो अपने कर्तव्य का पालन करना ही है। आप कहेंगे, कोई सुनने वाला ही नहीं होगा तो आप किसे सुनाएंगे? नहीं, तब भी मैं सुनाऊंगा, चुप नहीं रहूंगा। तब मैं कपाटों को सुनाऊंगा, खाली हॉल को सुनाऊंगा। यदि मेरी आवाज में ताकत होगी तो आज नहीं कल, कल नहीं परसों,.....वह आपको अवश्य यहां खींच लाएगी। शास्त्रों में कहा है—मनुष्य यदि तीव्र प्रयत्न से बोलता है तो उसकी आवाज समूचे लोक में फैल जाती है। अतः यदि मैं तीव्र प्रयत्नपूर्वक बोलूंगा तो मेरी आवाज सारे लोक में व्याप्त हो जाएगी। उसे आप रोक नहीं सकेंगे। आप क्या, कोई भी नहीं रोक सकता। और तो क्या, आज तो विज्ञान भी अपनी भाषा में इस कथन पर प्रामाणिकता की मुहर लगाता है।

एक उपलब्धि

बन्धुओ! एक दिन वह भी था, जब लोग हमें साम्प्रदायिक एवं प्रतिक्रियावादी बताकर हमारी बात की उपेक्षा कर दिया करते थे। पर हम इस स्थिति में भी निराश नहीं हुए। हमने अपना कार्य पूरी निष्ठा के साथ चालू रखा। उसे बंद नहीं किया। उसी का परिणाम है कि आज एक परिवर्तन स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। लोग हमारी कुछ-कुछ बातें सुनने लगे हैं। हालांकि यह तो नहीं कहा जा सकता कि जो कुछ सुनते हैं, उसको सब लोग आचरण में भी ढालते हैं। पर आशा करता हूं कि एक दिन ऐसा भी आएगा, जब सुनी हुई बातों को लोग आचरण में लाने का प्रयत्न करेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और यह स्वाभाविक भी है। पहले वातावरण बनता है। फिर लोगों की आस्था जमती है। आस्था जमने के पश्चात् ही तदनुकूल आचरण बनने का क्रम आता है। अतः संयमकेन्द्रित जो बातें हम बता रहे हैं, उन पर लोगों की आस्था भी हो जाए तो मैं इसे बहुत बड़ी उपलब्धि मानता हूं। मैं देख रहा हूं, आज लोग अणुव्रत-आंदोलन की बातों को न केवल ध्यान से सुन ही रहे हैं, बल्कि उन पर सहानुभूतिपूर्वक चिंतन भी कर रहे हैं। यह निश्चित ही भविष्य के लिए एक शुभ संकेत है। मैं मानता हूं, यह स्थिति अपने कर्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन करने का ही परिणाम है। यदि लोगों के नहीं सुनने या कम सुनने की बात से हताश-निराश होकर हम अपना काम छोड़ देते तो यह स्थिति कैसे निर्मित होती। आज भी इसी निष्ठा के साथ हम कार्य कर रहे हैं।

हमें उनके पास जाना चाहिए

पिछले दिनों हम हाथरस में थे। प्रवासकाल के दौरान वहां एक व्यापारी-सम्मेलन का आयोजन हुआ। उसमें व्यापारियों की उपस्थिति नगण्य-सी ही थी। पर इससे मैं निराश नहीं हुआ। मैंने हार नहीं मानी। मैंने अपने साधुओं से कहा—'व्यापारी लोग यहां नहीं आए तो क्या, हमें उनके पास जाना चाहिए।' फिर देर किस बात की थी। साधु लोग कड़कड़ाती धूप में दुकान-दुकान पर गए और व्यापारियों को संयम का तत्त्व बताया, नैतिकता एवं प्रामाणिकता की बातें समझाई। इसका परिणाम बहुत ही सुन्दर आया। सौ से अधिक व्यापारियों ने कम तोल-माप और मिलावट न करने की, धोखाधड़ी और अप्रामाणिकता न बरतने की प्रतिज्ञाएं कीं। आज के इस युग में जबकि लोगों की यह आस्था बन रही है कि सचाई और नीति-निष्ठा से व्यापार नहीं चल सकता, सौ से अधिक व्यापारियों द्वारा इस प्रकार की प्रतिज्ञाएं करना, क्या आश्चर्य की बात नहीं है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यदि व्यक्ति निष्ठापूर्वक कर्तव्यरत रहता है तो उसका अनुकूल परिणाम आना अवश्यंभावी है।

प्रेरणा के स्रोत

बन्धुओ! कर्तव्य-पालन की यह प्रेरणा हमें आचार्य भिक्षु से मिली है। वे आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व हुए। तेरापंथ धर्मसंघ, जिसका कि मैं आचार्य हूं, उसके प्रणेता वे ही थे। धर्म के क्षेत्र में उन्होंने एक महान् क्रांति की थी। **तेरापंथ** उसी धर्म-क्रांति की निष्पत्ति है। धर्मक्रांति के प्रारंभिक दिनों में, जैसा कि स्वाभाविक है, लोग उनको सुनने के लिए बहुत कम आया करते। ऐसी स्थिति में वे लोगों तक अपनी बात पहुंचाने के लिए नानाविध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयत्न करते। यहां तक कि वे दुकानों में जाकर ठहरते। जब ग्राहक माल खरीदने आते, तब तो दुकानदार उन्हें सौदा देते और जब ग्राहक नहीं होते, तब वे (आचार्य भिक्षु) लोगों को तत्त्व समझाते। इस प्रकार अनेक लोगों को उन्होंने अपनी बात समझाई। हम तो उनके ही पदचिह्नों का अनुगमन करने वाले हैं। अतः हमें भी लोगों को समझाने के लिए घर-घर जाना पड़े तो इसमें संकोच कैसा, शर्म कैसी। यह तो हमारा कर्तव्य है और कर्तव्य-पालन में प्रसन्नता एवं आत्मतोष की अनुभूति होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७. सुख-दुःख का मूल

विपर्यय हो रहा है

जीवन के मूल्य बदलने हैं, मूल्यांकन की दृष्टियां बदलनी हैं। परन्तु वे नहीं बदल रहे हैं। इसके विपरीत जो नहीं बदलने का है, वह बदल रहा है। अनुशासन की कमी, विनय की परम्परा का उन्मूलन, त्याग के प्रति अश्रद्धा, स्वार्थ की प्रचुरता—ये नहीं बढ़ने चाहिए, पर बढ़ रहे हैं। उद्दण्डता बढ़ रही है। पुलिस की गोली चलने का क्रम बढ़ रहा है। शासन का नियंत्रण बढ़ रहा है। स्व-नियमन बढ़ना चाहिए था, पर बढ़ने के स्थान पर कम हो रहा है। यही क्रम चला तो एक दिन सब स्वयं को खतरे में पाएंगे।

स्व-नियमन की कमी बढ़ती है, तब सभी को दुःख होता है। शासक भी पछताते हैं, जन-नायक भी पछताते हैं, और-और भी। किन्तु कोरे पछताने से क्या होगा। स्व-नियमन की परम्परा को छोड़ दूर भागने का दुष्परिणाम तो भोगना-ही-भोगना होगा।

दुःख का मूल

भगवान महावीर ने कहा—'दुःख हिंसाप्रसूत है, दुःख आरम्भप्रसूत है।' इन दो शब्दों की परिधि में वर्तमान की सारी कठिनाइयां समाहित हैं। हिंसा का पहला प्रसव है—वैर-विरोध, दूसरा है—भय और तीसरा है—दुःख।

आरम्भ का पहला प्रसव है—संग्रह, दूसरा है—वैषम्य और तीसरा है—दुःख। किन्हीं को अति-भाव सता रहा है और किन्हीं को अभाव। अति-भाव के पीछे संरक्षण का रौद्रभाव है और अभाव के पीछे प्राप्ति की आर्त्त-वेदना।

सुख का मूल

सुख का हेतु अभाव भी नहीं है, अति-भाव भी नहीं है। सुख का हेतु स्वभाव है। मानव अपने स्वभाव से जितना दूर हटता है, उतना ही अति-भाव, पदार्थ का अति-संग्रह करने लगता है। पदार्थ से दूर हटने का मतलब है—स्वभाव की ओर गति। स्वयंकृत अभाव में स्वभाव का दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकट से होता है। अभाव विवशता से होता है। वह दुःख देता है। पदार्थ का अभाव हो, यह कोई कैसे चाहेगा। अति-भाव की चाह होती है, पर वह करनी नहीं चाहिए। यथाभाव की क्षमता समाज-व्यवस्था में है। जो नहीं होना चाहिए, उसके निवारण की क्षमता त्याग या व्रत में है। अणुव्रत का सन्देश यही है—जो नहीं होना चाहिए, उससे दूर रहो। यह व्यवस्थाओं की स्वयं स्फूर्त व्यवस्था है। सुख का हेतु अहिंसा या मैत्री है। उसका आधार अनपहरण है। जो व्यक्ति दूसरों के स्व का अभी हरण नहीं करता, वह सबका मित्र है। सुख की दृष्टि बाहरी पदार्थों में बंधी हुई है। यह भूल है। इससे मानसिक असमाधि बढ़ती है। भगवान महावीर ने कहा—'महा-आरंभ नरक का हेतु है।' नरक कोई माने या न माने, वह आगे की बात है, किन्तु उससे दुर्गति होती है, इसमें कोई संदेह नहीं। महा-आरम्भ का उद्देश्य महा-परिग्रह है। महा-परिग्रह का उद्देश्य है—महाभोग या महा-विलास। क्रम यों हुआ—महा-विलास के लिये महा-परिग्रह, महा-परिग्रह के लिये महा-आरम्भ, जिसका कि मूल दुर्गति है। तब उसके पत्र-पुष्प में सुरभि कहां से होगा। महा-आरम्भ को आज की भाषा में बड़ा उद्योग कहा जा सकता है।

राष्ट्रीय दृष्टि से बड़े-बड़े उद्योगों को महत्त्व मिलता होगा, प्रोत्साहन भी मिलता होगा, मुझे पता नहीं। मैं चरित्रशुद्धि की दृष्टि से बात कह रहा हूं। सुख-शान्ति की दृष्टि से बात कर रहा हूं। चरित्रशुद्धि व सुख-शांति की दृष्टि से महा-आरम्भ और महा-परिग्रह आदरणीय/उपादेय नहीं हैं—यह ऋषिवाणी है। निष्ठापूर्वक आरम्भ और परिग्रह के अल्पीकरण से चरित्र-शुद्धि की दिशा में प्रगति होती है, सुख-शांति का विकास होता है, यह अनुभवगम्य भी है। आप भी इस दिशा में प्रयाण कर इस सचाई का अनुभव कर सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८. विकास या ह्रास ?

बोलने की सार्थकता

बोलते सब हैं। मनुष्य बोलते हैं। पशु बोलते हैं। पक्षी भी बोलते हैं। चारों ओर शोर-गुल है। सुनते-सुनते लोगों के कान बहरे-से होते जा रहे हैं। पर मैं नहीं समझता, उस बोलने का क्या महत्त्व, जिसमें कोई सार नहीं, संयम की पुट नहीं, जिससे जनता को जीवनशुद्धि की कोई प्रेरणा मिले ही नहीं। वस्तुतः वही बोलना सही माने में बोलना है, जिसमें कुछ सार है, संयम का संदेश है, जन-जीवन के लिए मार्ग-दर्शन है।

दिग्भ्रांत मानव

आज के मानव के पैरों तले जमीन दिखाई नहीं देती। लगता है, वह दिग्भ्रांत है, किंकर्तव्यविमूढ है। उसे समझ नहीं पड़ रहा है कि वह क्या करे ? **'इतो व्याघ्रः इतस्तटीः'** की-सी स्थिति बन रही है। एक राहगीर जंगल से होकर गुजर रहा था। मार्ग में सामने से आते हुए किसी व्यक्ति ने बताया, आगे बाघ है। छूटते ही वह उल्टा दौड़ा। इधर आता है तो क्या देखता है कि नदी में बाढ आ गई है। अब वह क्या करे ? किधर जाए ? अपनी जान कैसे बचाए ? दोनों ओर मौत मुंह खोले खड़ी है।

गिरता जीवन-स्तर

प्रश्न है, मानव की ऐसी स्थिति क्यों बनी ? इसका उत्तर बहुत स्पष्ट है। जीवन के रूप में उसने एक अमूल्य निधि प्राप्त तो अवश्य की, पर उसे अच्छे ढंग से सम्हाल कर नहीं रख सका। उसकी विशेषता, गरिमा और समझदारी तो तब थी, जब वह उसका विकास करता। पर आज विकास तो कहीं रहा, उल्टा ह्रास हो रहा है। लेकिन दोष भी किसे दिया जाए। युग का प्रवाह ही कुछ ऐसा है।

आज देश में ज्ञान-विज्ञान का अभाव नहीं है। शिक्षा क्रमशः बढ़ती जा रही है। स्कूलों पर स्कूल खुलते जा रहे हैं। कॉलेजों पर कॉलेज अस्तित्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में आ रहे हैं। स्थान-स्थान पर विश्वविद्यालय स्थापित किए जा रहे हैं। साहित्य पर साहित्य छप रहा है। पुस्तकों का अंबार लग रहा है। समाचार-पत्रों का बोलबाला है। पर इन सबके बावजूद जाने क्या बात है कि मानव अपने जीवन-स्तर को विकसित करने के स्थान पर चारित्रिक ह्रास की ओर बढ़ता जा रहा है।

जीवन का स्तर : जीने का स्तर

बारीकी से ध्यान देने पर स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि आज **'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां'** की स्थिति बन गई है। जो भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश था, आज उसी भारत के सपूत जघन्य-से-जघन्य काम करते हुए सकुचाते नहीं हैं। जिन भारतीयों का नारा **'आचारः प्रथमो धर्मः'** था, उन्हीं के लिए आज विलास सर्वोपरि तत्त्व हो रहा है। जहां जीवन के स्तर को ऊंचा उठाना चाहिए था, वहां जीने के स्तर को ऊंचा उठाया जा रहा है। सबमें एक ही लगन है, एक ही धुन है—जीने के स्तर में हम किसी से कम न रहें। यानी इस क्षेत्र में आगे-से-आगे बढ़ने के लिए एक अनायोजित प्रतिस्पर्धा-सी चल रही है। लोगों ने जीवन की परिभाषा को ही बदल डाला है। आज जीवन की परिभाषा बन रही है—आधुनिक सभी प्रकार की सुख-सामग्री से संपन्न होना। व्यक्ति की चाह है—मेरे पास कोठी हो, मोटर हो, रेडियो हो, सोफा-सेट हो, मेज-कुर्सी हो, बाहर बाग हो, फव्वारा हो, खेल-कूद और अन्य मनोरंजन के साधन हों, ... । पर ये सब तो वास्तव में सुख-सुविधा के साधन हैं, जीवन से इनका कोई संबंध नहीं है। जीवन तो इनसे बहुत आगे का तत्त्व है। पर कैसी विडम्बना है कि मानव इस तथ्य पर तनिक भी गौर नहीं कर रहा है !

फैशन की बीमारी

लोग कहते हैं कि आज संसार में बीमारियां बहुत बढ़ गई हैं। बात गलत तो नहीं है। नित नई-नई बीमारियां प्रगट हो रही हैं। डॉक्टर लोग औषधियों से एक बीमारी को कुछ नियंत्रित करते हैं कि दो नई बीमारियां और जनम ले लेती हैं। इस स्थिति से लोग बहुत चिंतित हैं। पर मेरी दृष्टि में बड़ी-से-बड़ी किसी शारीरिक बीमारी से भी अधिक घातक है फैशन की बीमारी। ऐसा प्रतिभासित हो रहा है कि जन-मानस एक अंधी दौड़ दौड़ा जा रहा है। किसी को रुक कर दो क्षण सोचने का अवकाश भी नहीं है। यों भाई भी पीछे नहीं हैं, पर बहिनें तो दो कदम और आगे हैं। मुझे यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति बहुत अखरती है। रह-रहकर मन में विचार उठता है, लोग क्यों नहीं सोचते कि यह फैशन जीवन को बर्बाद कर रही है। इससे जीवन-स्तर क्रमशः नीचे गिरता है। उसको ऊंचा उठाने के लिए इससे बचना और मुक्त होना अत्यावश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। इसके स्थान पर सादगी और संयम को प्रतिष्ठित करना अपेक्षित है।

दरिद्र और अनाथ कौन ?

भारतीय संस्कृति संयमप्रधान संस्कृति है, त्यागप्रधान संस्कृति है। यहां धन-वैभव और सुख-सुविधाओं के साधनों से विपन्न व्यक्ति को दरिद्र नहीं माना गया है। दरिद्र माना गया है उस व्यक्ति को, जो संयम से विपन्न है। दरिद्र हो क्यों, उसे अनाथ भी कहा गया है—

जो करे हुकूमत लाखों पर, पर नहीं निज कानों-आंखों पर।
भौं पर विकार की रेख खींची, रे ! सच्चा वही अनाथ।
नाथ-अनाथ अर्थ बिन समझे व्यर्थ करे क्यों बात ?

बहुत गहरी बात है यह। लाखों व्यक्तियों पर अनुशासन करना फिर भी सरल है, पर अपने इन दो कानों और दो आंखों पर अनुशासन करना कठिन है। करोड़ों व्यक्तियों को जीतना फिर भी सरल है, पर अपने एक मन को जीतना कठिन है। करोड़ों-अरबों की धन-संपत्ति का स्वामी होना उतना कठिन नहीं है, जितना संयम से संपन्न होना है, चरित्र से संपन्न होना है। दूसरे शब्दों में करोड़पति-अरबपति होकर भी वह महादरिद्र है, जो संयम और चरित्र से रहित जीवन जीता है।

जीवन का सही मूल्यांकन हो

आज सबसे बड़ी भूल यह हो रही है कि संयम और चरित्र से होने वाला जीवन का मूल्यांकन चांदी-सोने के टुकड़ों से होता है, सत्ता और अधिकार से होता है। अणुव्रत आंदोलन इस भूल का परिमार्जन करना चाहता है। वह जन-जन को यह संदेश देता है कि जीवन का सच्चा मूल्य धन-वैभव नहीं, त्याग है। महानता की कसौटी सत्ता नहीं, चरित्र है। मनुष्य का अंकन सुख-सुविधा की साधन-सामग्री से नहीं, संयम और सदाचार से होता है।

हनुमान बनें

अणुव्रत-आंदोलन प्रेरणा के स्वर में कहता है—मानव ! तू बाहर कहां भटकता है ? अरे ! जिस हनुमान के अन्तर् में राम अंकित है, राम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विराजमान है, वह माला के मनकों पर लिखे राम नाम का क्या करेगा। मन में रमे राम के समक्ष बेचारी माला क्या मोल रखती है। अतः मानव ! तू हनुमान बन, अपने अन्तर् में सूक्ष्मता से झांक, घट में छुपी अपनी अनन्त शक्ति को जागृत कर। निस्संदेह, सुषुप्त मानवता अंगड़ाई लेकर जाग उठेगी। तेरा भाग्य-सितारा चमक उठेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९. नव-निर्माण का शुभ संकल्प संजोएं*

उल्लास का प्रेरक दिवस

पन्द्रह अगस्त का दिन भारतवर्ष के लिए स्मृति-दिन बन गया है। इसके पीछे स्वतंत्रता का इतिहास है। विजातीय बन्धन को तोड़ फेंके बिना कोई भी आदमी स्वतंत्र नहीं होता। भारतीय जनता ने आज के दिन विजातीय तत्त्वों से मुक्ति पाई और यह दिन उल्लास का प्रेरक बन गया।

मुक्ति की परिकल्पना : भारतीय संदर्भ

पर भारतीय मानस की मुक्ति इतनी छोटी वस्तु नहीं है। यहां मुक्ति की बड़ी ऊंची कल्पना की गई है। हमारा निकटतम साथी है शरीर। उसे भी बन्धन माना गया है। उससे मुक्ति पाना भी हमारा लक्ष्य है। शरीर पर हमारा ममत्व है। उसके लिए पदार्थों पर ममत्व है। उसके लिए भूमि पर ममत्व है। भूमि के लिए युद्ध पर भी ममत्व है। अतः हमारा भारतीय मानस उन लोगों को स्वतंत्र नहीं मान सकता, जो पदार्थ की प्राप्ति के लिए दूसरों को बंधन में डाले हुए हैं।

तेल आज की सुख-सुविधा का मुख्य साधन है। वह जहां अधिक है, वहां संसार की लालची दृष्टि जमी हुई है। तेल, जो उनकी समृद्धि का साधन है, वही आज उनके लिए संघर्ष का हेतु बन रहा है।

संघर्ष का मूल

लोग संघर्ष का मूल राजनीति में ढूंढते हैं। पर मुझे उसका मूल पदार्थवाद में दीखता है। पदार्थ का ममत्व निरंकुश हो रहा है। त्याग और संयम की बात एक कहानी बन गई है।

शीत-युद्ध चल ही रहा है। प्रत्यक्ष-युद्ध की भी धमकियां दी जा रही हैं। सभी लोग भयाक्रांत हैं। युद्ध नहीं चाहते हैं वे भी और चाहते हैं वे भी। युद्ध का परिणाम किसी के लिए भी इष्ट होगा — इसकी कल्पना किसी को

*१२वें स्वतंत्रता-दिवस के सन्दर्भ में प्रदत्त संदेश।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। पर ममत्व का बंधन इतना गाढ हो गया है कि वर्तमान की दुनिया उससे मुक्ति पाने की स्थिति में नहीं है।

भारतीय लोगों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अब भी कम पदार्थवादी है। शांति और अनाक्रमण की चिरकालीन परम्परा से वे सहज संस्कृत हैं। अहिंसा और संयम के संस्कार उनकी धमनियों में प्रवाहित हैं। उन्हें अधिक सावधानी से चलना है। दुनिया बहुत छोटी हो गई है। भारतीय लोग भी पदार्थवादी दृष्टि के आधार पर हुई प्रगति की ओर ललचा रहे हैं, जबकि दूसरे-दूसरे देशों के लोग शस्त्रों की विभीषिका से अशांत होकर भारत की शांति को महत्त्व दे रहे हैं। भारतीय लोग स्थिति को आंकने में भूल न करें।

अतीत का अवलोकन : भविष्य का निर्धारण

आज का दिन उनके लिए भविष्य के निर्धारण और अतीत के अवलोकन का है। गत वर्ष में हिंसा की मात्रा कुछ बढी है। प्रांतीयता का मनोभाव, भाषा-विवाद, विद्यार्थियों के तोड़-फोड़-मूलक आंदोलन, अनशन का दुरुपयोग, बार-बार गोलियां चलना, एक दल द्वारा दूसरे दल की निम्नस्तरीय आलोचना आदि-आदि कुछ ऐसी घटनाएं घटी हैं, जो भारतीय परम्परा को शोभा नहीं देतीं। इनमें दोनों ओर का दुराग्रह काम करता है। यह सच है कि शेष दुनिया में ऐसी घटनाएं होती हैं। पर चिंतनीय बिंदु यह है कि भलाई किसमें है—इनका अन्धानुकरण करने में या इनसे दूर रहने में ? इन घटनाओं से संबंधित सभी लोग इस संदर्भ में गहराई से सोचें। मैं तो सदैव इस भाषा में सोचता हूं कि नव-निर्माण के लिए शांति, समन्वय और सहृदयता की अपेक्षा है, आपसी विरोध की नहीं।

ऐसी दुर्घटनाओं की पुनरावृत्ति अब नहीं होगी, इस दृढ निश्चय के साथ ही आगामी वर्ष में प्रवेश करें। आज के दिन राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक हिंसोन्मुख शक्ति को चरित्र-विकास की ओर मोड़ने का शुभ संकल्प संजोए। अणुव्रत आंदोलन इस दिशा में पथ का आलोक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०. बुराइयों का मूल

मैं देख रहा हूं, आज भारतवर्ष नाना प्रकार की बुराइयों से ग्रस्त है। मैं ही क्यों, आप भी तो इसी प्रकार की अनुभूति करते ही होंगे। व्यापारी-वर्ग अपने व्यापार-व्यवसाय में प्रामाणिकता, नैतिकता, ईमानदारी और सचाई को ताक पर रखकर अप्रामाणिकता, अनैतिकता, बेईमानी एवं झूठ को खुलेआम चला रहा है। गलत-से-गलत काम करते, ग्राहकों को भयंकर-से-भयंकर धोखा देते उसके आत्म-प्रकम्पन तक नहीं होता। इसी प्रकार एक राज्य-कर्मचारी पैसों के लोभ में आकर बड़े-से-बड़ा अन्याय और पक्षपात करते नहीं सकुचाता। कमोबेश इसी तरह की स्थिति सभी वर्गों की है। समाज का कोई भी वर्ग ऐसा नजर नहीं आता, जो बुराइयों से सर्वथा अछूता हो। कहा जाता है कि इन बुराइयों का मूल हेतु अभाव और परिस्थितियां हैं। हालांकि इस कथन में एकान्ततः सचाई है ही नहीं, ऐसा तो मैं नहीं कहता, पर यह सर्वांशतः तथ्यपरक है, ऐसा भी नहीं मानता। क्यों ? इसलिए कि अभाव और प्रतिकूल परिस्थितियों के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी बुराइयां मिटती नजर नहीं आतीं। ऐसे अनेक व्यक्ति आपको देखने को मिल सकते हैं, जिनके आज कोई अभाव नहीं है, दूसरी-दूसरी परिस्थितियां भी अनुकूल हैं, उसके उपरांत भी वे बुराइयों में लिप्त हैं। अमानवीय व्यवहार एवं आचरण करते हैं। इसलिए मैंने कहा कि अभाव एवं परिस्थितियों को बुराइयों का ऐकान्तिक कारण नहीं माना जा सकता।

बन्धुओ ! मेरे चिन्तन में बुराइयों का मूलभूत कारण है— मानव का मानस। पदार्थ के प्रति उसके मन में जो अत्यधिक लोलुप-वृत्ति पैदा हो गई है, उससे उसकी विवेक-चेतना आवृत हो गई है। इसके फलस्वरूप ही वह औचित्य-अनौचित्य, करणीय-अकरणीय, न्याय-अन्याय की भेद-रेखा नहीं खींच पाता। अतएव सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि मानव अपने मानस का सुधार करे। यह सुधार हुए बिना ऊपर के परिवर्तनों से काम बनेगा नहीं। अणुव्रत आंदोलन के रूप में हमने एक व्यापक कार्यक्रम चलाया है। यह मानव-जीवन में परिव्याप्त अनैतिकता, भ्रष्टाचार के घाव का आन्तरिक पीप सुखाना चाहता है, ताकि मानव अप्रामाणिकता, विश्वासघात, असत्याचरण, शोषण जैसी कलुषित वृत्तियों से दूर रहता हुआ स्वस्थ जीवन जीने के पथ पर आगे बढ़ सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३१. धर्म का आधार

विद्याध्ययन की सार्थकता

आज मैं विद्यार्थियों से कुछ बातें कहना चाहता हूं। विद्यार्थी सबसे पहले इस बिन्दु पर अपना ध्यान केन्द्रित करें कि भारतीय परम्परा में केवल जड़ विद्या या जड़ ज्ञान को वास्तविक ज्ञान नहीं माना गया है। ढेर सारी पुस्तकें पढ़ लेने मात्र से कोई पण्डित नहीं बन जाता। जड़ ज्ञान या जड़ विद्या का अर्थ आप समझें। इन्द्रियों के स्तर पर होने वाला ज्ञान जड़ ज्ञान है। इन्द्रियों से परे जो ज्ञान या विद्या है, वह चेतन ज्ञान है, चेतन विद्या है। पुस्तकें और इन्द्रियां तो मात्र सहारा या साधन हैं। यदि व्यक्ति में चेतना न हो तो क्या इन्द्रियां उसे ज्ञान करा सकेंगी। पुस्तकें उसके ज्ञानी बनने में साधन बन सकेंगी। वे सहारा या साधन तभी बनती हैं, जब चेतना मौजूद हो। ऐनक देखने में तभी सहयोगी बनता है, जब आंखों में रोशनी हो। यदि रोशनी ही नहीं, तो ऐनक बेचारा क्या करेगा। ऊंचे-से-ऊंचे नम्बर का ऐनक व्यक्ति भले लगा ले, पर उसे कुछ भी दिखाई नहीं देगा। इसलिए यह नितान्त अपेक्षित है कि विद्यार्थी केवल पुस्तकीय ज्ञान या जड़ ज्ञान तक ही सीमित न रहें। वे चेतन ज्ञान की प्राप्ति के लिए सदैव सचेष्ट रहें। तभी उनके विद्याध्ययन की सच्ची सार्थकता है।

धर्म अध्यात्म-आधारित हो

दूसरी बात—विद्यार्थियों को यह समझना है कि भारतवर्ष का सांस्कृतिक गौरव धर्म है, अध्यात्म है। हालांकि दूसरे-दूसरे देशों में भी धर्म नहीं है, ऐसी कोई बात नहीं है, पर वहां धर्म की अवधारणा भारतवर्ष की एतद् विषयक अवधारणा से भिन्न है। वहां धर्म का विकास मुख्यतः राष्ट्रीय हित-संरक्षण के आधार पर हुआ है। कुछ देशों में लोग दूध में पानी इसलिए नहीं मिलाते कि उससे राष्ट्र के नागरिकों का स्वास्थ्य खराब होता है, राष्ट्र शारीरिक दृष्टि से रुग्ण बनता है। पर भारतवर्ष में धर्म का विकास इस भित्ति पर नहीं हुआ है। यहां नीति और धर्म राष्ट्र-प्रतिष्ठित नहीं हैं। यहां उनका मूलभूत आधार अध्यात्म है। आज भी यहां के कण-कण में अध्यात्म का स्वर अनुगुंजित है। विनोबाजी ने अपने आंदोलन का नाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'भूदान' रखा है। वे दूरदर्शी हैं, सूझबूझ के धनी हैं। वे इस बात को बहुत अच्छी तरह से जानते हैं कि यहां की जनता की नस-नस में अध्यात्म के संस्कार हैं। भले आज वे प्रगट अवस्था में नहीं हैं, पर उनका अस्तित्व ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। इसलिए दान और धर्म की भावना से उसे आकृष्ट कर इस आंदोलन के साथ आसानी से जोड़ा जा सकता है। यद्यपि विनोबाजी इस कटु सचाई से भी परिचित हैं कि आज दान का नाम बदनाम हो गया है। पर वे दान को उस रूढ परिभाषा में नहीं बांधते, जिसने देश में लाखों भिखारियों को पैदा किया है। वे दान का अर्थ करते हैं—समविभाग। भूदान के संदर्भ में वे उसका अर्थ करते हैं—जिसके पास जरूरत से ज्यादा भूमि है, वह उस पर समाज का अधिकार मानता हुआ उसे सौंप दे। विनोबाजी इसके माध्यम से देश का आर्थिक संतुलन साधना चाहते हैं।

अणुव्रत : अध्यात्म-आधारित कार्यक्रम

हमने अणुव्रत-आंदोलन के रूप में एक कार्यक्रम दिया है। उसका आधार भी अध्यात्म ही है। इसलिए हमने उसमें 'व्रत' शब्द जोड़ा है। अणु की शक्ति से आज कौन परिचित है। व्रत से संयुत होकर वह राष्ट्र के लिए परम हितकर बन गया है। साथ ही उसे सुगमता से सभी लोग ग्रहण भी कर सकते हैं। वैसे आत्म-साधना की दृष्टि से महाव्रत की साधना आदर्श है और इसीलिए उसका महत्त्व है। पर व्यक्ति-व्यक्ति की शक्ति की तरतमता के कारण वह सबके लिए ग्राह्य नहीं है। विशिष्ट सामर्थ्यसम्पन्न व्यक्ति ही उसे ग्रहण कर सकते हैं, उस साधना-पथ पर पदन्यास कर सकते हैं। पर अणुव्रत का साधना-पथ व्यापकता लिए हुए है। अपने व्यावहारिक स्वरूप के कारण वह जन-जन के लिए ग्राह्य है। आपके लिए भी वह ग्राह्य है। बड़ी सुगमता से आप उसके छोटे-छोटे संकल्पों का पालन कर सकते हैं।

जैसा कि मैंने पूर्व में कहा, धर्म के सन्दर्भ में भारतीय चिंतन और दूसरे देशों के चिंतन में एक मौलिक अन्तर है। भारतीय चिंतन में धर्म का मौलिक आधार अध्यात्म है, जबकि दूसरे-दूसरे राष्ट्रों में उसका आधार राष्ट्रीयता है। हालांकि अध्यात्म-आधारित धर्म से भी राष्ट्रहित का उद्देश्य सध जाता है, पर वह उसका एक परिणाम है, सब कुछ नहीं। अध्यात्म-आधारित नीति व धर्म के परिणाम कभी भी बुरे नहीं आ सकते, जबकि राष्ट्रीयता पर आधारित धर्म और नीति के परिणाम बहुत बार अच्छे नहीं भी होते। राष्ट्रीयता कभी-कभी अतिराष्ट्रीयता में परिणत होकर संसार के लिए घातक हो सकती है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण आसानी से खोजे जा सकते हैं, देखे जा सकते हैं। अतः भारत में धर्म और नीति के अध्यात्म-प्रतिष्ठित स्वरूप को ही सुरक्षित रखा जाए, यही श्रेयस्कर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२. समस्या का हल

आज की स्थिति पर जब हम सूक्ष्मता से दृष्टिपात करते हैं तो एक बात बहुत स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है कि न केवल भारतवर्ष ही, अपितु समूचा संसार नाना प्रकार की समस्याओं से आक्रान्त है। कहीं गरीबी की समस्या बनी हुई है, तो कहीं धन की बहुलता की समस्या। लोगों को दिन-रात इस बात की चिंता सताती है कि इसको सुरक्षित कैसे रखा जाए। कहीं जातीय उन्माद की समस्या है, तो कहीं वर्णवाद सिरदर्द बना हुआ है। कहीं रंगभेद की समस्या सुलग रही है, तो कहीं साम्प्रदायिक संघर्षों की धूम है। कहीं हिंसा का नग्न नृत्य हो रहा है, तो कहीं बढती हुई जनसंख्या की समस्या है। मैं मानता हूं, जब समूचा संसार संकट के दौर से होकर गुजर रहा हो, तब कोई एक देशविशेष या क्षेत्रविशेष समस्याओं से सर्वथा अनछुआ नहीं रह सकता। वह भी आज के युग में, जबकि दुनिया के एक कोने का स्वर देखते-देखते ही दूसरे कोने में झंकृत हो उठता है।

यह वस्तुस्थिति का चित्रण है। इससे इनकार नहीं हुआ जा सकता। पर इसके बावजूद निष्क्रिय होकर बैठ जाना कदापि उचित नहीं है। निराशा किसी भी समस्या का समाधान नहीं है। अतः समस्याओं का हल सोचते रहना और उसके अनुरूप पुरुषार्थ करते रहना, यही समझदारी का तकाजा है।

अहिंसा, अपरिग्रह और संयम के संस्कार भारतवासियों को विरासत में प्राप्त हुए हैं। पर कैसी विडम्बना है कि वे अपनी इस सम्पत्ति को भूलकर अपने-आपको दरिद्र एवं दुःखी अनुभव कर रहे हैं। उन्हें यह बात बहुत अच्छे ढंग से समझ लेनी चाहिए कि उत्पादन और पूंजी को बढाने मात्र से समस्याओं का समुचित हल नहीं होगा। यदि कोई इस प्रकार की कल्पना लेकर चलता है तो मैं कहूंगा कि यह उसकी भयंकर भूल है। भारतीयजन ध्यान दें, जिस देश के सामने रोटी की कोई समस्या नहीं है, वह संभवतः आज सबसे ज्यादा व्यग्र है। मेरा निश्चित अभिमत है कि समस्याओं का स्थायी समाधान आत्म-संतोष और समता की भावना में निहित है। जब तक इन दोनों तत्त्वों का विकास नहीं होता है, तब तक न रोटी की समस्या हल हो सकती है और न साम्प्रदायिक संघर्ष आदि की समस्याएं ही। अपेक्षा है, इस बिन्दु पर सभी लोग अपना ध्यान केन्द्रित करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३. ज्ञान और श्रद्धा का योग हो

अपेक्षित है आत्म-निरीक्षण

यह एक असंदिग्ध बात है कि विज्ञान ने आज बहुत उन्नति की है। उसने ऐसे-ऐसे अनेक आश्चर्यकारी साधन विकसित किए हैं, जो वर्षों में न निपटने वाला कार्य घंटों में निपटा देते हैं। ऐसे-ऐसे शस्त्र निर्मित किए हैं, जो कुछ ही क्षणों में शत्रु-देश के अस्तित्व को समाप्त कर विजय दिला सकते हैं। पर इसी के समानान्तर यह भी एक कटु सत्य है कि वह जीवन के अंतर्-पक्ष की अवनति का निमित्त बना है। उसके कारण आज नैतिक मूल्यों का तेजी से विघटन हो रहा है। व्यक्ति का आचरण भ्रष्ट होता जा रहा है। स्वार्थवृत्ति इतनी बढ़ रही है कि सत्य, प्रामाणिकता, ईमानदारी जैसे मानवीय गुण जीवन से लुप्त होते जा रहे हैं। इसके अभाव में मानव मानव कहलाने का कितना अधिकारी रहता है, यह बताने की मुझे जरूरत नहीं है। ऐसे भयावह नैतिक एवं चारित्रिक दुर्भिक्ष के वैषम्यपूर्ण युग में जन-जन को अपना आत्म-निरीक्षण करना चाहिए, अपने-आपको टटोलना चाहिए। बहिर्मुखता को तजकर अन्तर्मुखता की ओर मुड़ना चाहिए। जीवन को नैतिक, चारित्रिक एवं मानवीय प्रतिष्ठा के अनुरूप ढालना चाहिए। ऐसा करके ही वे अपने जीवन को सार्थक बना सकते हैं। अणुव्रत आन्दोलन इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए उनके लिए दिशासूचक यंत्र का काम कर सकता है।

विकास : दो पक्ष

अन्तर्-विकास के दो पक्ष हैं—ज्ञान और आचार। ज्ञान से हमारी दृष्टि निर्मल बनती है, हेय और उपादेय का विवेक जागता है। आचरणीय एवं अनाचरणीय के बीच की भेदरेखा ज्ञात होती है। पर ज्ञान के साथ श्रद्धा का अनिवार्य रूप से योग अपेक्षित है। श्रद्धाशून्य ज्ञान व्यक्ति को मंजिल तक नहीं पहुंचा सकता। श्रद्धायुक्त होने के बाद ही वह अपने-आपमें पूर्ण होता है। ऐसा ज्ञान ही व्यक्ति के जीवन में सत्य, समता, अहिंसा आदि गुणों को प्रकट करने में सक्षम होता है। आज कहने के लिए तो ज्ञान बहुत बढ़ा है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर उसके साथ श्रद्धा का अनिवार्य योग न होने के कारण वह व्यक्ति को सम्यक् राह नहीं दिखा पा रहा है। फलतः वह भ्रष्टाचार, अनैतिकता आदि की कन्टकाकीर्ण पगडंडियों में भटक रहा है। अपेक्षा है, इस भूल का परिमार्जन किया जाए। मेरा विश्वास है, इस भूल का परिमार्जन ही दुनिया को संकट से उबार सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४. चिंतन का आकाश

मानसिक स्वतंत्रता

जन्म से लेकर मौत तक जो समान भाव से प्रिय है, वह है व्यक्तित्व। व्यक्तित्व यानी स्वन्त्रता या अकेलापन। अकेलेपन की मर्यादा है कि वह दूसरों के द्वारा बांधा न जाये। सार्थ या समाज अकेलेपन में बाधक नहीं है। उसमें बाधा डालता है—थोपा हुआ नियन्त्रण। नियन्त्रित दशा में न सुख होता है और न शांति ही। सुख और शन्ति मानसिक अनुभूति के विषय हैं। बंधा हुआ मन उन्हें कैसे समझे। इसलिए सबसे पहली अपेक्षा है—मानसिक स्वतन्त्रता।

मानसिक परतन्त्रता

प्रश्न है, मानसिक परतंत्रता कहां से आती है? क्यों आती है? मानसिक परतंत्रता बाहरी नियंत्रण से आती है और उसके आने का हेतु है—अपना असंयम। असंयम यानी प्रसार। व्यक्ति अपनी सहज मर्यादा से बाहर जाता है, तब बाहरी नियंत्रण उसे आ दबाता है। दूसरे के घर, गांव या देश में जाते-जाते जब दूसरे के अधिकार हथियाने की बात आदमी को सूझी, तब से वह परतंत्र बन गया।

स्थितियों के अध्ययन का दृष्टिकोण बदले

आज अर्थ का युग है। सर्वत्र उसका प्रभुत्व है। ऐसा लगता है कि पवित्रता की बात गौण-सी हो गई है। यह स्पष्ट रूप में माना जाने लगा है कि अर्थ-व्यवस्था सभी प्रकार की बुराइयों और अच्छाइयों के केन्द्र में है। पर मेरा चिंतन इससे भिन्न है। यद्यपि बुराइयों और अच्छाइयों के घटने-बढ़ने में अर्थ-व्यवस्था के प्रभाव की बात को मैं सर्वथा अस्वीकार नहीं करता। यह संभव है, आर्थिक कठिनाई के समय कुछ बुराइयों को प्रोत्साहन मिले और अर्थ की सुविधा होने पर कुछ बुराइयां सहज रूप से मिट जाएं, तथापि वास्तव में अर्थ-व्यवस्था अच्छाइयों और बुराइयों के मूल में नहीं है। फिर उनका मूल क्या है? मेरी दृष्टि में उनका मूल है—अन्तर् की वृत्तियां और मान्यताएं। उनका संयम-असंयम से बहुत गहरा लगाव है। निकट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का लगाव है। आप गौर करें, जो आनन्द दूसरों पर आदेश चलाने और अधिकार जमाने में प्राप्त होता है, वह स्वयं को और स्वयं की अन्तरंग वृत्तियों को संयत करने में उपलब्ध नहीं होता। एक युद्ध शांत होता है कि दूसरा शुरू हो जाता है। थोड़ा-सा स्वार्थ टकराया कि लड़ाई चालू हो जाती है। सत्ता और पूंजी के केन्द्रीकरण में उन्माद भर जाता है। स्वाधीन रहना सबको प्रिय है। भौगोलिक सीमाओं ने किसी राष्ट्र को छोटा बना रखा है तो किसी को बड़ा। जो बड़े राष्ट्र हैं, वे छोटे राष्ट्रों पर मनमानी करना चाहते हैं, अपनी इच्छा थोपना चाहते हैं। बड़े राष्ट्रों का उन्माद और छोटे राष्ट्रों का स्वातंत्र्य-प्रेम—ये दोनों परस्पर टकराते हैं। इसमें मुख्य रूप से विचारणीय बात बड़े राष्ट्रों के लिए है। उनका उन्माद असंयम की उपज है। उसे मिटाये बिना विश्व का भला होने वाला नहीं है। सत्ता और अर्थ के विकेन्द्रीकरण की बात अब राजनीति के साथ भी जुड़ गई है। किन्तु प्रश्न यह है, वह सफल कैसे हो? पारस्परिक विश्वास समाप्त होता जा रहा है। विलास का भाव बढ़ रहा है। जटिलताएं अनगिनत हैं। विकास को यंत्रों एवं शस्त्रास्त्रों से मापा जा रहा है। बहुत स्पष्ट है कि मूल्यांकन की दृष्टियां बाहर से चिपक गई हैं। अन्तरंग-शुद्धि की ओर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। आवश्यकता है, सारी स्थिति को नए सिर से पढ़ा जाए, देखा जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. बन्धन और मोक्ष

शास्त्रों में कहा गया है—

अत्थि बंधे व मोक्खे वा इति सन्ना निवेसए ।
नत्थि बंधे व मोक्खे वा इति सन्ना न निवेसए ।
अत्थि पुण्णे व पापे वा इति सन्ना निवेसए ।
नत्थि पुण्णे व पापे वा इति सन्ना न निवेसए ।

यह श्रद्धा/विश्वास करो कि बन्धन भी है, मोक्ष भी है। यह श्रद्धा/विश्वास मत करो कि बन्धन नहीं है, मोक्ष नहीं है। जहां बन्धन है, वहां मुक्ति तो होगी ही। इसी प्रकार जहां मुक्ति है, वहां बंधन का अस्तित्व तो स्वयं ही हो गया। तात्पर्य यह कि दोनों एक-दूसरे के बिना नहीं हो सकते। हां, यहां पर जो बन्धन बताया गया है, वह द्वयगुणक, त्रयगुणक आदि पौद्गलिक बन्धन की दृष्टि से नहीं है। बन्धन यानी दो चीजों का विशिष्ट संयोग—आत्मा के साथ होने वाला विजातीय पदार्थों का बन्धन। आत्मा पर बन्धन भी है और उसकी मुक्ति भी है।

अभव्य की मुक्ति ?

यहां प्रश्न हो सकता है कि यदि बन्धन और मुक्ति दोनों साथ रहें तो क्या अभव्य आत्मा की भी मुक्ति होती है ? इसका उत्तर है—हां एक अपेक्षा से अभव्य की भी मुक्ति मानी जा सकती है। यद्यपि अभव्य की सर्वथा तो मुक्ति नहीं होती, पर जो कर्म बन्धे हुए हैं, वे ही तो सर्वदा नहीं रहते। वे छूटते हैं, नए बंधते हैं। और यह क्रिया निरन्तर ही चलती रहती है।

शुभ योग से, शुभ अध्यवसाय से निर्जरा होती है। पर यह विचित्र बात है कि अशुभ अध्यवसाय से भी निर्जरा होती है। क्षमा से निर्जरा होती है, तो क्रोध से, लड़ाई-झगड़े से भी निर्जरा होती है। अठारह ही पापों के सेवन से निर्जरा होती है। पर तत्त्व-दृष्टि से वह निर्जरा निर्जरा नहीं, जिससे आत्म-शुद्धि नहीं होती। शुभ योग से, तपस्या से होने वाली निर्जरा में पाप का बन्धन नहीं होता, जबकि इसमें नाम मात्र का निर्जरण व विपुल मात्रा में पाप का बन्धन होता है। जो मोहनीय कर्म की प्रकृतियां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधी हुई थीं, वे उदय में आईं और आत्मा को विकृत बनाकर पापों से भारी करके चली गईं। यह निर्जरा न सकाम निर्जरा है और न अकाम निर्जरा ही।

जैसे, दो व्यक्तियों ने अपनी जमीन, जायदाद, आभूषण, गिरवी रखकर कर्ज लिया। एक अपने श्रम से कर्ज चुका कर अपनी उपरोक्त वस्तुएं छुड़ा लेता है। पर दूसरा समयावधि पूरी होने तक उन्हें नहीं छुड़ा पाता। फलतः वे वस्तुएं चली जाती हैं और कर्ज चुक जाता है। परन्तु वस्तुतः यह कर्जा चुकाना नहीं, स्वयं का बर्बाद होना है। इसी तरह यह निर्जरण भी निर्जरा-तत्व नहीं, पर आत्म-घर की बर्बादी है।

इसी तरह पुण्य-पाप भी हैं। आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म बन्ध हैं, तो भोगे जाने वाले कर्म पुण्य-पाप हैं। द्रव्य---बंधे हुए पुण्य-पाप को भाव बंध कहा जाता है। इसी प्रकार कर्म-बन्ध की उदीयमान अवस्था को भाव पुण्य-पाप कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६. शिक्षा क्यों ?

शिक्षा और जीवन-निर्माण

मैं देख रहा हूं, आज चारों ओर शिक्षा के विकास की चर्चा है। मै शिक्षा का विरोधी नहीं, पर सार्थकता उसी शिक्षा की मानता हूं, जो जीवन-निर्माण करने में सक्षम हो। जो शिक्षा जीवन का सही निर्माण न कर सके, ऐसी शिक्षा की कोई विशेष उपयोगिता मैं नहीं देखता, बल्कि कहना चाहिए कि वह मात्र भार है। प्रश्न होगा, जीवन-निर्माण मे क्या तात्पर्य है ? हमारे यहां कहा गया—

शांतं तुष्टं पवित्रं च, सानन्दमिति तत्त्वतः।
जीवनं जीवनं प्राहुः, भारतीयसुसंस्कृतौ ॥

भारतीय संस्कृति में उसी जीवन को वास्तव में जीवन माना है, जो शांति, तुष्टि, पवित्रता एवं आनन्द से युक्त है। जिस जीवन में इन चारों तत्त्वों का अभाव है, वह कहने भर का जीवन है, वास्तविक जीवन नहीं। शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य सही जीवन का निर्माण करना है। जो शिक्षा या विद्या शांति, तुष्टि, पवित्रता एवं आनन्द—इन चारों तत्त्वों का जीवन में संचार नहीं करती, वह वास्तव में शिक्षा नहीं, अशिक्षा है, विद्या नही अविद्या है। पर मुझे लगता है कि बहुलांश में लोगों के सामने शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की स्पष्टता नहीं है। और तो क्या, विद्यार्थी स्वयं भी शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य को नहीं समझ पा रहे हैं। अन्यथा वे पेट भरने के लिए नहीं पढते, ऐशो-आराम के लिए नहीं पढते। अरे ! पेट तो पशु-पक्षी और कीड़े-मकोड़े भी भरते हैं। इसमें मानव की क्या विशेषता। ऐशो-आराम विलास बढाता है। वह न स्वयं के लिए लाभदायक है और न औरों के लिए ही।

चलते सब हैं, पर सच्चा चलना उन्हीं का है, जो दूसरों के लिये पगडंडी बन जाये। बोलते सब हैं, पर बोलना उन्हीं का है, जिससे दूसरे प्रेरणा पायें। विद्या से यदि ऐसा होता है, तभी वह विद्या है। कभी-कभी जीवन की छोटी-सी घटना भी, छोटी-सी वाणी भी दूसरों के लिये बड़ी प्रेरणा का स्रोत बन जाती है। इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि उसे करनेवाला/कहनेवाला कोई बहुत पढा-लिखा हो। कभी-कभी अनपढ व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी कुछ ऐसा कर लेता है, कह देता है, जो दूसरों के लिये प्रेरणा का काम कर जाता है।

दासी से प्रतिबोध

प्राचीन समय की बात है। एक दासी राजा की शय्या बिछाने के लिये नियुक्त थी। वह प्रतिदिन शय्या तैयार करती और राजा के शय्या पर आ जाने के बाद वापस चली जाती। एक दिन उसने शय्या तैयार की। उस समय उसकी आंखों में नींद घुल रही थी। उसके मन में विचार आया—कितनी कोमल है यह शय्या! इस पर सो जाऊं तो कैसा रहे? फिर विकल्प उठा, कहीं बीच में ही राजाजी आ गए तो? पर मन ने तत्काल समाधान दिया—पर वे तो बड़ी देर से आते हैं। मैं अभी आधे घंटे में सोकर उठ जाऊंगी। और इस समाधान के साथ ही वह शय्या पर सो गई। थकी हुई तो थी ही, नींद ने उस पर पर्दा डाल दिया और ऐसा पर्दा डाल दिया कि वह अपनी सुध-बुध ही भूल गई।

कुछ देर के बाद राजा सोने के लिये आया। उसने देखा—शय्या पर तो दासी सोई है। उसे बड़ा गुस्सा आया। झट अंगरक्षकों को आवाज देकर बुलाया और आदेश दिया—'इस दासी के एक-एक मिनिट बाद सात-सात कोड़े लगाओ।' अंगरक्षकों ने आदेश का पालन शुरू किया। पर राजा ने देखा कि कुछ विचित्र घटित हो रहा है। कुछ कोड़े खाकर दासी उठ खड़ी हुई है और हंसने लगी है। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। कोड़े लगवाना बंद कर उसने दासी से पूछा—'कोड़े खाकर भी तू हंस क्यों रही है?' उसने कहा—'महाराज! आपने बड़ा अच्छा किया जो मुझे इतना जल्दी उठा दिया। थोड़ी देर सोने के दण्डस्वरूप जब मेरे इतने कोड़े पड़ रहे हैं तो सारी रात सोने वालों के तो न जाने कितने कोड़े पड़ेंगे! अतः इस सुख और विचित्रता के कारण मुझे हंसी आ रही है।' सुनते ही राजा की आंखें खुल गईं। वह संसार से विरक्त बन गया। बस, उसी क्षण उसने प्रासाद छोड़ तपोवन का मार्ग पकड़ लिया।

आपने देखा कि वह दासी कोई पढ़ी-लिखी नहीं थी, तथापि उसकी एक बात ने ही राजा का सारा जीवन पलट दिया। अतः पढ़-लिखकर विद्यार्थी अपना जीवन ऐसा बनाएं, जिससे कि दूसरे उससे लोग प्रेरणा पायें।

विद्यार्थी कहते हैं—जब वातावरण विकृत रहता है, तब हम कैसे सुधर सकते हैं। पर इस संदर्भ में मैं उनसे कहना चाहता हूं कि वातावरण बदलने पर बदलना कोई गौरव/विशेषता की बात तो नहीं होगी, बल्कि कहना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए कि कमजोरी होगी। यह कल्पना क्यों की जाए कि वातावरण का हमारे पर असर पड़ता है। यह भी तो सम्भव है कि हम/आप वातावरण को बदल दें। पर इसके लिये दृढ संकल्प अपेक्षित है। दृढ संकल्प और व्रत—ये दोनों एक ही बात हैं। व्रत एक कवच है, जिसे पहनकर मनुष्य कहीं भी चला जाए, वह उसकी बुराइयों से रक्षा करने में समर्थ है। यदि जीवन व्रत के द्वारा सुरक्षित नहीं होगा तो पग-पग पर रुकावटें आयेंगी। अतः यह आवश्यक है कि विद्यार्थी व्रत के महत्त्व को समझें और स्वयं को उससे कवचित करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३७. मिथ्या दृष्टिकोण : सबसे बड़ा पाप

नैतिक आन्दोलनों की आज जितनी उपयोगिता है, उतनी शायद सतयुग में नहीं थी। हर वस्तु की उपयोगिता समयसापेक्ष होती है। **'नीकी पे फीकी लगे, बिन अवसर की बात'**---असमय में अच्छी-से-अच्छी वस्तु की कोई कीमत नहीं होती। भोजन कितना प्रिय होता है, इसका अनुभव भूखे से पूछें। प्यास से ही पानी का मूल्य है। जब देश में कंट्रोल नहीं था, ब्लैक छोड़ने की बात अनावश्यक थी। लेकिन आज आवश्यक है।

देश में बहुत बड़ा दुर्भिक्ष है। अनाज का नहीं। पानी का नहीं। ये तो बहुत छोटी बातें हैं। दुर्भिक्ष है मानवता का, श्रद्धा का।

पहले मनुष्य पाप नहीं करता था, ऐसी बात नहीं है। सदा पाप था, अब भी है। मनुष्य झूठ पहले भी बोलता था। चोर सतयुग में भी होते थे। सदा से अच्छाइयां और बुराइयां दोनों थीं और भविष्य में भी रहेंगी। हां, कभी-कभी बुराइयों का आधिक्य होता है। दुर्भाग्य से आज यह स्थिति बनी है। निश्चय ही यह एक चिन्तनीय स्थिति है। पर इससे भी अधिक गंभीर बात यह है कि आज का मनुष्य यह कहने लग गया है 'सत्य से काम नहीं चल सकता।'

शराब पीना निश्चित ही एक बुराई है। पर शराब जैसी चीज की विशेषता गाई जाये, सरे-बाजार यह कहा जाए कि शराब पीना बड़ा अच्छा है, इससे दिमाग तनावमुक्त और स्थिर रहता है,...यह तो भयंकर बुराई है, बल्कि सबसे बड़ी बुराई है।

सबसे बड़ा पाप

जैनागमों में अठारह प्रकार के पाप बताए गए हैं—

१. प्राणातिपात, (हिंसा) २. मृषावाद (झूठ) ३. अदत्तादान (चोरी) ४. मैथुन (अब्रह्मचर्य) ५. परिग्रह, ६. क्रोध ७. मान ८. माया ९. लोभ १०. राग ११. द्वेष १२. कलह १३. अभ्याख्यान (कलंक) १४. पैशुन्य १५. परपरिवाद १६. रति-अरति (असंयम में रति, संयम में अरति) १७. माया-मृषा (कपटसहित झूठ) १८. मिथ्यादर्शनशल्य।

इनमें पहले सत्तरह प्रकार के पाप एक तरफ हैं और अठारहवां पाप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक तरफ। दोनों की तुलना में पलड़ा भारी रहेगा, अठारहवें पाप का। मिथ्यादर्शनशल्य सबसे बड़ा पाप है। भयंकर पाप है, मिथ्यादर्शनशल्य अर्थात् विपरीत श्रद्धा, मिथ्यात्व, संदेह, अनास्था, दृष्टि-विपर्यय। चश्मा पीला है। दुनिया की समग्र सफेद वस्तुएं पीली नजर आएंगी। श्रद्धा के अभाव में बड़े-से-बड़ा, अच्छे-से-अच्छा तत्त्व भी निकम्मा ठहरेगा। मनुष्य बुराई करता है, यह उसकी कमजोरी है। पर बुराई को अच्छा मानना, उसका प्रचार करना तो बहुत बुरा है, बल्कि सर्वाधिक बुरा है। क्यों? इसलिए कि बुराई को अच्छा मानकर चलने वाला उसे छोड़ नहीं सकता। इसके विपरीत व्यक्ति बुराई करता है, किन्तु उसे बुरा मानता है, तो शायद एक दिन ऐसा आयेगा, उसे बुराई से घृणा हो जाएगी और वह उसे छोड़ देगा। पर बुरे को अच्छा मानकर चलने वाला उसे छोड़ेगा भी क्यों। इसलिए मिथ्यात्व सब पापों की जड़ है, नींव है और मूलभूत कारण है। आज लोगों की यह जो मिथ्या आस्था बन रही है कि सत्य से काम नहीं चल सकता, एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

नादंसिणस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

अर्थात् बिना सम्यक् दर्शन (श्रद्धा) ज्ञान नहीं होता, बिना सम्यक् ज्ञान के चरित्र गुण नहीं होता, बिना चरित्र के जीव मुक्त नहीं होता और बिना बन्धन-मुक्ति के निर्वाण नहीं होता।

नास्तिक कौन?

सम्यक्-दर्शन सब गुणों का मूल है। और इसके विपरीत मिथ्या-दर्शन सब अवगुणों का बीज है। कहा गया—**'नास्तिको वेदनिंदकः।'** परन्तु मैं तो कहूंगा, नास्तिक वह है, जो यह कहे कि सत्य से काम ही नहीं चलता, बल्कि इससे भी आगे यह कहना चाहूंगा कि जो श्रद्धाविहीन होकर चलता है, वह महानास्तिक है। आज के लोगों का दृष्टिकोण विपरीत है। जहां वह त्यागप्रधान होना चाहिए था, वहां वह भोग-प्रधान है। ऐसी स्थिति में ऐसे आन्दोलनों को बल देना अत्यन्त आवश्यक है, जो मनुष्य के दृष्टि-विपर्यास को मिटाकर उसे सम्यक् दृष्टि प्रदान करें।

असदाचार से एकत्रित की गई सम्पत्ति के उपयोगी धनवान् से क्या वह दरिद्री कहीं अच्छा नहीं है, जो कम-से-कम आवश्यकता रखता है, कम-से-कम संग्रह करता है। अरे! उस सहज दुबले-पतले आदमी से क्या वह स्थूलकाय आदमी अच्छा है, जो रोग के कारण मोटा बना है। उसे देख यदि कोई ऐसा समझे कि यह कितना मोटा-ताजा, कितना हृष्ट-पुष्ट है, तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या आपको उसकी बुद्धि पर तरस नहीं आएगी। क्या आप उस लोथ वाले मोटे-ताजे शरीर को पसन्द करेंगे ? अगर 'नहीं' तो मैं पूछना चाहता हूं, आज आपका यह जो कहना है कि धन सब कुछ है, अर्थ सब समस्याओं का हल है, कहां तक ठीक है ?

दरिद्रनारायण कहता है, जाति जाओ रसातल में, गुण जाओ उससे भी और नीचे, शील के टुकड़े-टुकड़े हो जाओ, शौर्य पर बिजली पड़े, नहीं चाहिए यश व गुण, मुझे तो धन चाहिए। उसके बिना समग्र गुण बेकार हैं।

न जाति चाहिए, न कुल चाहिए और न गुण चाहिए। क्या करे वह गरीब इन सब का, जिसके पास खाने का टुकड़ा नहीं। वैभव के बिना पूछता कौन है किसीको। भूखा क्या खाये·····**'बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते, पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।'**

'भूखे भजन न होइ गोपाला।' आखिर भूखे को तो चाहिए अन्न। वह क्या करे आपके इन गुणों का। बड़ी कठिन समस्या है। सत्य सूझे किसे, जब पेट में बिल्लियां लड़ें, चूहे उछल-कूद मचायें।

अणुव्रत आंदोलन का उद्देश्य

मैं मानता हूं, यद्यपि गरीबी के कारण अनेक समस्याएं पैदा होती हैं, व्यक्ति का चिन्तन भी उससे एक सीमा तक प्रभावित होना असंभावित नहीं है, तथापि इसे मूल समस्या नहीं माना जा सकता। मूल संकट आस्था का है, श्रद्धा का है। आज व्यक्ति की सत्य से आस्था डोल रही है। इसलिए सबसे बड़ी अपेक्षा यह है कि यथार्थ श्रद्धा को पुनः प्रतिस्थापित करने के लिए एक वेगवान् प्रयत्न किया जाए। इसी लक्ष्य को लेकर अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ है। ध्यान रहे, अणुव्रत आन्दोलन किसी जाति, समाज और धर्मविशेष के बन्धनों से सर्वथा मुक्त है। वह तो मानवमात्र से सम्बन्धित है। मानवमात्र का आन्दोलन है, जीवन का आन्दोलन है। 'अणुव्रत प्रार्थना' का अग्रोक्त पद उसके ध्येय को बहुत अच्छे ढंग से स्पष्ट करता है—

गृहिणी हो, गृहपति हो चाहे, विद्यार्थी, अध्यापक हो।
वैद्य, वकील, शील हो सब में, नैतिक निष्ठा व्यापक हो।
धर्मशास्त्र के धार्मिकपन को आचरणों में लाएं हम॥
आत्म-साधना के सत्पथ में अणुव्रती बन पाएं हम॥
बड़े भाग्य हे भगिनि! बन्धुओ! जीवन सफल बनाएं हम॥

सभी वर्ग के लोगों में सम्यक् आचार के प्रति निष्ठा व्याप्त हो, इसी उद्देश्य से अणुव्रत आन्दोलन देश में काम करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३८. शांति की खोज

अशांत मनुष्य शांति की खोज में निकला। राजनीति की मृग-मरीचिका में प्रवेश किया। वहां उसे मिली—पद-लिप्सा, आत्म-प्रशंसा और पर-निंदा की चकाचौंध। आलोचना करना सहज हो गया। चुनाव में विश्वास देकर उसे निभाना मानो उसने सीखा ही न हो। दूसरों को गिराना उसके लिए **'आचारः प्रथमो धर्मः'** बन गया। प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग करना जन्म-सिद्ध अधिकार हो गया।

वह वहां से भागा। समाज-नीति में घुसा और देखा—सर्वत्र देखा-देखी का छूत रोग व्याप्त है। श्रम की प्रतिष्ठा मिट गई है। लोग रूढ़िवाद की चक्की में पीसे जा रहे हैं। नैतिकता कोसों दूर चली गई है। बड़प्पन का मापदंड संयम नहीं, अर्थ बन गया है। बड़प्पन की भूख सबमें प्रबल है।

वह वहां से भी मुड़ा। धर्मनीति में घुसकर खुली आंखों से निहारा तो पाया कि धर्म ने आडम्बर का चोगा पहन रखा है। धर्म की ओट में स्वार्थ साधा जा रहा है। भगवान सोने से ढका हुआ है। ज्ञान सोने से मढा हुआ है। उपासना का केन्द्र वासना का केन्द्र बना हुआ है। धर्म सम्प्रदाय की चहारदीवारी में बन्दी बना हुआ है।

वह दिग्-भ्रांत हो गया। आगे चला। चलता चला। एक ओर प्रकाश की किरण फूटी। वह मुड़ा। व्रतों के वातावरण में पहुंच उसने देखा—शांति का मार्ग संयम है, आत्म-नियन्त्रण है, अपने द्वारा अपना अनुशासन है। यही धर्म का विशुद्ध रूप है। ऐसा धर्म सम्प्रदायवाद से परे है। जाति, रंग और लिंग के बन्धनों से मुक्त है। राजनीति के रंगमंच से दूर है। मनुष्य जिसके लिए चला था, वह मिल गया। उसकी खोज पूर्ण हो गई। उसका पुरुषार्थ सार्थक हो गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३९. इन खाइयों को पाटा जाए*

आज व्यक्ति-व्यक्ति में नहीं, राष्ट्र-राष्ट्र के बीच तनाव बढ रहा है। उसे मिटाने का एक सीमा तक प्रयत्न किया जा रहा है। प्रयत्नस्वरूप संभव है, एक देश का प्रधानमंत्री, दूसरे देश के राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री के निमंत्रण पर उसके देश में जाये। यह भी संभव है कि उसका शानदार स्वागत हो। फिर यह भी संभव है कि आपस में शान्ति-सन्धियां स्थापित हो जाएं। पर जब स्वार्थ आपस में टक्कर खाते हैं तो मैत्रीयुक्त भावनायें और सन्धियां किनारा ले लेती हैं, खाइयां फिर पड़ जाती हैं। राष्ट्रसंघ की स्थापना इन्हीं खाइयों को पाटने के लिए हुई थी। पर वह भी अपने उद्देश्य में पूर्ण रूप से सफल नहीं हुआ। ऐसे समय में हमारा भी कर्त्तव्य है कि हम युद्धग्रस्त मानव को मैत्री की भावना दें। इसी दृष्टि से पिछले वर्ष दिल्ली में मैत्री दिवस का प्रथम आयोजन किया गया। इस वर्ष भी काफी बड़े रूप में यह आयोजन अनेक स्थानों पर मनाया गया। इसका एकमात्र लक्ष्य है कि मानव को एक स्वार्थमुक्त मैत्री की भावना मिले।

अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए हथियारों को निमंत्रण देने की आवश्यकता नहीं। दुनिया दो-दो महायुद्धों और उनके परिणामों को भुगत चुकी है। वह नहीं चाहती की मानव का संहार हो, उसका नाममात्र भी न रहे। जब सभी लोग शांति की पुकार करते हैं तो क्यों कुछेक राष्ट्रनेता अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए युद्ध व अशान्ति को बुलावा दे रहे हैं।

व्यक्तियों का समूह ही राष्ट्र है। व्यक्तियों के अलावा राष्ट्र का और अस्तित्व है ही क्या। जो भावना व्यक्ति को दी जाएगी, वही राष्ट्रों को दी जाएगी। दोनों के रास्ते दो नहीं हो सकते। दूसरी बात यह है कि राष्ट्रों में विरोध राष्ट्रीय दृष्टि से होता है, व्यक्तिगत दृष्टि से नहीं। युद्ध की भावना राष्ट्र से नहीं, व्यक्ति के उर्वर मस्तिष्क से निकलती है। अतः मैं चाहता हूं कि प्रहार मूल पर ही हो, ताकि युद्ध की भावना ही न पनपे।

---

*मैत्री दिवस पर प्रदत्त संदेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य यह सोचे कि गत वर्ष मैंने किसी के साथ मन-वचन-काया से जान या अनजान में कोई कटु व्यवहार तो नहीं किया ? उसकी आत्मा उसे अपने-आप जवाब देगी। अगर ऐसा हुआ हो तो वह अन्तर् की सम्पूर्ण निर्मलता एवं ऋजुता के साथ प्रतिपक्षी से कहे कि मेरी भूल के लिए आप मुझे क्षमा करें। मैं भी आपको क्षमा करता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४०. मैत्री : विश्व-शांति का आधार

'मैत्री दिवस' की पीठिका

व्यक्ति-व्यक्ति के विचारों और स्वार्थों में अन्तर हो सकता है। पर इससे आपसी सम्बन्ध कटुतापूर्ण हों—यह आवश्यक नहीं है। प्रत्येक विचार में अनेकांत दृष्टि से कुछ समन्वय खोजा जा सकता है, तब फिर उसके लिये लड़ने की क्या आवश्यकता है। पर आज कुछ विचित्र-सा लग रहा है। शांति के लिये युद्ध लड़े जा रहे हैं! संसार दो-दो महायुद्धों को देख चुका है। केवल महायुद्धों को ही क्यों, उनके घातक परिणामों को भी तो देख चुका है। वह नहीं चाहता कि आज फिर शांति के नाम पर महान् संहार हो। प्रायः लोग युद्ध नहीं चाहते, तथापि कुछ इने-गिने लोग विश्व को युद्ध के भीषण दावानल में ढकेलना चाहते हैं। भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने 'मैत्री दिवस' के संदर्भ में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—'इस बार यदि युद्ध हुआ तो वह बड़ा भयंकर होगा। आज तक की मानव-संस्कृति, जो कि अनेक प्रयत्नों से निर्मित हुई है, एक बारगी नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी। अतः हम चाहते हैं कि फिर से युद्ध का अवसर ही न आये। इसके लिये आवश्यक होगा कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी समस्याओं को मैत्रीपूर्ण ढंग से हल करे। अतः आज के युग में तो 'मैत्री दिवस' के आयोजन का और भी महत्व बढ़ जाता है।'

विरोध का उत्स

कोई कह सकता है—आप विश्व-मैत्री की बातें कर रहे हैं। पर आज तो राष्ट्र-राष्ट्र, प्रांत-प्रांत, समाज-समाज, परिवार-परिवार, घर-घर और व्यक्ति-व्यक्ति में विरोध की भावना व्याप्त है। तब फिर विश्व का प्रश्न ही कैसा। इस संदर्भ में मैं कहना चाहूंगा कि विरोध की भावना दो नहीं, एक ही होती है। चाहे वह छोटे क्षेत्र में हो, चाहे बड़े क्षेत्र में। बाहरी उपकरण उसे उभारते हैं, पर मूल में विरोध-भावना व्यक्ति की अपनी आत्मा की ही उपज होती है। उसे उन्मूलित करने का एक ही मार्ग है और वह यह कि लोग मैत्री के मूल को समझें और उसे अपने जीवन में स्थान दें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मैत्री दिवस' मनाने का उद्देश्य

मैं मानता हूं कि कोई भी देश अपने हित को छोड़ दे, यह सम्भव नहीं है। पर व्यक्तिगत रूप से किसी दूसरे देश के प्रति विरोध हो, इसकी क्या आवश्यकता है। एक देश का निवासी दूसरे देश के निवासी का व्यक्तिगत विरोध करे, यह आवश्यक नहीं है। 'मैत्री दिवस' इसी भावना का प्रतीक है। प्रत्येक व्यक्ति किसी भी दूसरे व्यक्ति के प्रति विरोध नहीं रखेगा तो अपने-आप मैत्री की भावना को बल मिलेगा। उसका पहला कदम होगा—व्यक्ति स्वयं दूसरों से अपनी त्रुटियों के लिए क्षमा-याचना करे। भला ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो क्षमा मांगने पर क्षमा नहीं देगा। यद्यपि आने को तो आज भी एक देश का प्रधानमंत्री दूसरे देश में सद्भावना-प्रसार के रूप में आता है। पर यह उपक्रम प्रायः औपचारिक ही रह जाता है। इतनी-इतनी सद्भावना यात्राएं हो जाने के बाद भी तनाव कम हुआ है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। संयुक्तराष्ट्रसंघ में अनेक देशों के प्रतिनिधि इसी उद्देश्य से आते हैं। पर ऐसा लगता है, जैसे मौलिक बात को भुला दिया जाता है। इसीलिए यह आवश्यक है कि विश्वभर में एक दिन ऐसा मनाया जाए, जिसके माध्यम से कि संसार के सभी लोग मैत्री के महत्व को समझ सकें।

यद्यपि इसका हम कोई एक दिन निश्चित नहीं कर पाये हैं। इसमें कुछ कठिनाइयां भी हैं। इसलिए कि मैत्री-दिवस किसी एक समाज या एक देश के लिए नहीं है। हम इसे अखिल विश्व के स्तर पर लाना चाहते हैं। अतः कोई एक दिन सब लोगों की सुविधा को ध्यान में रखकर ही सोचा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४१. दुर्व्यसन और कुरूढियों का मार

दुर्व्यसन जीवन के लिए अभिशाप हैं। जो व्यक्ति दुर्व्यसनों का दास बन जाता है, मानना चाहिए कि उसने अपने जीवन में दुःख को आमन्त्रण दे दिया है, सुख को विदा कर दिया है। उसके बुरे दिन आ गए हैं। बहुत बार प्रश्न आता है, किसान कड़ी धूप में मेहनत करता है, ऐड़ी से चोटी तक पसीना बहाता है, फिर भी भूखा क्यों? मेहनत से कमाने वाला दरिद्र क्यों? खरी कमाई करने वाला दीन-हीन क्यों? मुझे तो लगता है कि वह इधर कमाता है और उधर गमाता है। तम्बाकू उसकी गरीबी का एक कारण है। शराब की बोतल भी उसकी गरीबी का एक बड़ा कारण है। तुम्हीं बताओ, शराब पीकर बेभान बन जाना, पागल बन जाना क्या मानवता है?

ओसर की कुप्रथा का भी किसान की गरीबी में कम योगदान नहीं है। कर्जदार बनकर भी वह बाप का ओसर करेगा। खेती की जमीन गिरवी रखेगा, बाल-बच्चों की रोटी छीनेगा, पर ओसर तो करेगा-ही-करेगा। इस कुप्रथा के कारण उसकी पीढ़ियां-दर-पीढ़ियां कर्ज में डूब जाती हैं। इसी प्रकार दहेज और ठहराव जैसी कुप्रथाएं भी अत्यन्त घातक हैं। एक-एक लड़की के लिए बीस-बीस हजार देना पड़ता है। बेचारे मां-बाप परेशान हो जाते हैं। उनके प्राण कंठों में आ जाते हैं। यदि योग-संयोग से किसी के चार-पांच लड़कियां हो जाएं, फिर तो कहना ही क्या। आज समाज इन कुरूढ़ियों से जर्जरित हो रहा है। जब तक ये कुरूढ़ियां समाप्त नहीं होतीं, समाज के विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता। वह ऊपर नहीं उठ सकता। चूंकि समाज की मूल इकाई व्यक्ति है, इसलिए व्यक्ति-व्यक्ति को जागृत होना होगा, इन आत्मघाती कुरूढ़ियों की जंजीर को तोड़ गिराने के लिए संकल्पबद्ध और सचेष्ट होना होगा। तुम भी इस समाज के अंग हो। इसलिए तुम्हारे में से प्रत्येक को इस दिशा में सार्थक प्रयास करना चाहिए। अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा में तुम्हारा पथ-दर्शन करता है। इसके पथ-दर्शन में कदम-कदम बढ़ते चलो। स्वस्थ समाज-संरचना की दिशा में यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अभियान होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२. सुख का उत्स

वर्तमान को देखें

आज चारों ओर चन्द्रलोक की यात्रा की बातें चल रही हैं। नये-नये आविष्कारों की भरमार है। लोगों की कल्पनाएं जाने कहां-कहां दौड़ रही हैं। पर मैं आपसे कहना चाहूंगा कि आज आप एक बार इन सब कल्पनाओं को छोड़कर अपने वर्तमान के धरातल पर आयें। यद्यपि केवल वर्तमान का ही चिन्तन करना नास्तिक दर्शन—चार्वाक दर्शन की मान्यता है। पर आप डरें नहीं, मैं आपको नास्तिक बनाने नहीं जा रहा हूं। हमारे शास्त्रों में भी चार्वाक दर्शन को एक दर्शन माना गया है। पर हमारी दृष्टि में उसका मूल्य सापेक्ष ही है। अतीत और अनागतसम्बद्ध वर्तमान हमारे चिंतन का विषय रहा है। आज भी हमें जिस वर्तमान का चिंतन करना है, वह भूत और भविष्य दोनों से सम्बद्ध ही है।

मैं ऐसे धर्म में विश्वास करता हूं

कुछ लोग भविष्य की कल्पना में वर्तमान को भूल जाते हैं। वे परलोक को सुधारने के लिए इस लोक को बिगाड़ने में भी विश्वास करते हैं। पर मेरी दृष्टि में वह धर्म वास्तव में धर्म नहीं है, जो इस लोक को बिगाड़े और परलोक को सुधारे। मैं तो ऐसे धर्म में विश्वास करता हूं, जो इस लोक को भी सुधारे और परलोक को भी सुधारे। भविष्य की कल्पना में वर्तमान की उपेक्षा कर देना धर्म का लक्षण नहीं है। यद्यपि यह सही है कि तपस्या में कुछ काय-क्लेश होता है। पर मैं पूछना चाहता हूं, ऐसा काय-क्लेश तो किस काम में नहीं होता? क्या पैसा कमाने में कष्ट नहीं होता? मैंने एक धनाढ्य राजस्थानी भाई से पूछ लिया—'क्यों भाई! तुम्हारे पास तो खूब पैसा है, तुम तो आराम में होगे?' वह बोला—'महाराज! मुझे आराम कहां। दिन-भर चिंताएं सताती रहती हैं। पहले जब मेरे पास ज्यादा पैसे नहीं थे तो सोचा करता कि लखपति लोग सुख से रहते हैं। मैं भी क्यों न लखपति बन जाऊं। पर अब सोचता हूं, आज से पहले कहीं अधिक सुखी था।' वस्तुतः व्यक्ति जितना अधिक अर्थ का संग्रह करता है, उसके सिर पर उतना ही अधिक बोझ भी बढ़ जाता है। आप सोचते होंगे, नेता लोग बड़े सुखी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर आपसे बताऊं कि उन्हें अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए न जाने कैसे-कैसे कष्ट उठाने पड़ते हैं। तात्पर्यार्थ यह कि यों कष्ट तो हर एक बात में होता ही है। तब तपस्या में भी कष्ट हो, यह कोई असामान्य बात नहीं है।

संयम का मूल्य

पर मैं अपना अनुभव भी आप लोगों को सुनाऊं। अकिंचन रहकर भी हम साधुओं को जितना सुख है, उतना शायद बड़े-बड़े पूंजीपतियों को भी नहीं होगा। इसका कारण क्या है? कारण स्पष्ट है। सुख संयम से आता है। जिसमें जितना अधिक संयम होगा, वह उतना ही अधिक सुखी होगा। परंतु संयम से मेरा मतलब केवल संन्यासी वेष से नहीं है। वेष ले लेने मात्र से ही कोई सुखी हो जाता हो, ऐसी बात नहीं है। वास्तव में संयम तो अपनी वृत्तियों से आता है। आप कहेंगे, हमारे लिए यह कैसे संभव है? ठीक है, आप संयम के उत्कर्ष तक नहीं पहुंच सकते। पर एक सीमा तक तो उसको स्वीकार कर ही सकते हैं। महाव्रती न सही, अणुव्रती तो बन ही सकते हैं। पर अणुव्रती केवल दिखाने के नहीं, वास्तविक रूप में बनें। आपने अन्य अनेक बातों का अभ्यास किया होगा। तब एक बार मेरा कहना भी मानें। संयम का भी कुछ अभ्यास करें। उसका भी स्वाद तो चखें। मैं आपसे कह सकता हूं, निश्चित ही इससे आपको बड़ी शांति मिलेगी।

अणुव्रत-दर्शन का सार-संक्षेप

अणुव्रती के संयम के माने है कि वह बैठे तो ऐसे न बैठे कि जिससे चार आदमियों की जगह रुके। वह चले तो ऐसे न चले, जिससे दूसरों को टक्कर लगे। वह खाए तो ऐसे न खाए, जिससे दूसरों की रोटी छीनी जाए। वह बोले तो ऐसे न बोले, जिससे दूसरों की आवाज लुप्त हो जाये। साधुओं के लिए एक नियम होता है कि लोगों के सोने का समय होने के पश्चात् वे जोर से न बोलें। क्यों? इसलिए कि ऐसा करने से लोगों की नींद हराम हो सकती है। अतः यह एक प्रकार की हिंसा है। किसी को क्या अधिकार है कि वह दूसरों की नींद में बाधा डाले। अतः एक अहिंसक व्यक्ति बोलेगा भी तो ऐसे बोलेगा, जिससे कि किसी दूसरे को कष्ट न हो। हम किसी को सुखी कर सकते हैं या नहीं, यह एक विवाद का विषय है, पर अपनी ओर से हम किसी को दुःखी न करें, यह तो अपने वश की बात है। अतः अणुव्रती का यह आदर्श रहेगा कि वह अपनी ओर से किसी को दुःखी नहीं बनायेगा। मैं सोचता हूं, यदि व्यक्ति-व्यक्ति ऐसा सोच ले तो फिर संसार में दुःख का अस्तित्व ही कहां रहेगा। यही अणुव्रत-दर्शन का सार-संक्षेप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४३. साधना-पथ

प्रवचन : क्या ? क्यों ?

मैं लगभग प्रतिदिन प्रवचन करता हूं। एक बार प्रवचन करना तो मेरी जीवन-चर्या का एक अनिवार्य अंग-सा ही बन गया है। कभी-कभी दिन में तीन-तीन, चार-चार बार भी प्रवचन करना आवश्यक होता है। हम साधुओं को प्रवचन से विश्राम कहां। और बहुत सही तो यह है कि विश्राम लेना ही किसे है। विश्राम तो उसे लेना पड़ता है, जो थकान अनुभव करता हो। मुझे इसमें थकान का अनुभव ही नहीं होता। यह तो मेरा काम है। अपना काम करते थकान कैसी। उसमें तो उल्टा आनन्द आता है। तब भला उस आनन्द को कौन छोड़ना चाहेगा।

मैं प्रवचन करता हूं। पर ऐसा कर किसी पर अहसान तो नहीं करता। यह तो मेरी स्वयं की साधना है। आत्माराधना करते जो अनुभव मुझे मिले, उन्हें जनता के सामने बिखेर देना—यही तो प्रवचन है। इस अपेक्षा से प्रवचन करने का सच्चा अधिकारी वही है, जिसने अपने जीवन को साधना में लगाया है। जो व्यक्ति साधना करता ही नहीं, उसे प्रवचन का कैसा अधिकार। साधक अपने अनुभव इसीलिए सुनाता है कि कोई उनसे प्रेरणा पाये तो अच्छा। यदि कोई प्रेरणा नहीं भी पाता है, तब भी उसने तो अपनी साधना का लाभ कमा ही लिया। स्वाध्याय के रूप में उसके तो निर्जरा हो ही गई।

तिन्नाणं-तारयाणं

आप जानते है, साधु के न तो व्यापार है और न कोई अन्य धंधा ही। शास्त्रों में उसके मात्र दो ही कार्य बताये गए हैं—स्वयं तिरे और दूसरों को तिरने की प्रेरणा दे, उसमें निमित्त बने। अपने जीवन को साधना के सर्वोच्च शिखर पर ले जाना—यह साधु का पहला काम है और अपने सम्पर्क में आनेवाले लोगों को साधना की प्रेरणा दे—यह उसका दूसरा काम है। बस, इसके सिवाय साधु के और कोई काम नहीं होता। शेष जितने कार्य हैं, वे सभी इन दोनों में समाविष्ट हो जाते हैं। हर एक काम में यदि ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावनाएं रहती हैं तो वे कल्याणकारी हैं, अन्यथा वे भी अकल्याणकारी हो जाती हैं।

साधना कहां की जाए ?

साधना के सन्दर्भ में जैन तीर्थंकरों का चिन्तन बहुत व्यापक रहा। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि साधना केवल जंगल में ही हो सकती है। वह तो जहां साधक करना चाहे वहीं हो सकती है। एकांत में भी हो सकती है और जन-समूह के बीच में भी। आप कहेंगे, साधुओं को तो संसार से विमुख कहा गया है। मैं इस बात को आंशिक रूप में स्वीकार करता हूं और आंशिक रूप में नहीं भी करता। संसार में जितने बन्धन के कार्य—वैकारिक कार्य हैं, उनसे साधुओं को बचकर रहना चाहिए। पर वे संसार के प्राणियों से एकदम विलग हो जाएं, यह सम्भव नहीं लगता। अतः हमारा निश्चित कार्यक्रम यह है कि हम कहीं भी रहें, **'तिन्नाणं तारयाणं'** इस लक्ष्य को सदा सामने रखें, स्व और पर का कल्याण करते रहें।

साध्य और साधना

प्रश्न है, साधना का पथ क्या है ? शास्त्रों में कहा गया है—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥

सम्यग्दर्शी वीतराग भगवान ने बताया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का समन्वित रूप साधना का मार्ग है। यद्यपि तप को यहां एक विवक्षा से चारित्र से अलग किया गया है, पर वास्तव में तप और चारित्र—ये दोनों एक ही हैं। इस प्रकार तीन तत्त्व हमारे सामने रह जाते हैं। ये साधन हैं या साध्य, यह कहना जरा कठिन है, क्योंकि साधना ही आगे जाकर साध्य बन जाती है। वास्तव में साध्य और साधना का ऐकात्म्य है। इसीलिए कहा गया है कि शुद्ध साध्य के लिए साधना भी शुद्ध होनी चाहिए। जब तक व्यक्ति साधक है, तब तक तो ये साधन हैं और जब वह सिद्ध हो जाता है, तब ये ही साध्य बन जाते हैं।

यद्यपि ज्ञान हमारी आत्मा का ही गुण है, पर आज तो वह हमारे लिए अदृश्य-आवृत-सा हो रहा है। अतः हमें उसे पाना है। इसलिए वह हमारा साध्य है। इसी प्रकार दर्शन और चारित्र भी हमारे साध्य हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के द्वारा ही उन्हें पाना है। और यह ठीक भी है। कहते हैं, हीरे की घसाई हीरे से ही होती है। हम एकबार पूना में हीरे की घसाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के एक कारखाने में चले गए थे। वहां हमने देखा, हीरे घसने के औजारों पर हीरों का ही चूर्ण लगाया जा रहा है। ऐसा किए जाने का कारण पूछे जाने पर हमें बताया गया कि हीरे की घसाई हीरे से ही की जा सकती है। इसी प्रकार कहा गया है—'**विषस्य विषमौषधम्**'—विष की औषध विष है। यही बात साधना के संदर्भ में है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना भी तदनुरूप यानी ज्ञान, दर्शन और चारित्र से ही होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४४. धर्म का शुद्ध स्वरूप

हमें धर्म का सिंहनाद करना है। पर उस धर्म का नहीं, जिसका अस्तित्व केवल मन्दिरों, धर्मस्थानों या धर्मग्रन्थों तक ही सीमित है। कुछ लोगों का यह आक्षेप रहता है कि धर्म केवल चिंतन का ही विषय है। पर यह सही नहीं है। धर्म का मतलब है—सोचो और जीवन में उतारो। शास्त्रों में कहा गया है—**'बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा'**—बन्धन को जानो और फिर उसे तोड़ो। **'अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए'**—आत्मा से सत्य का अन्वेषण करो और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री-भाव रखो। अतः धर्म में चिंतन और आचरण दोनों साथ-साथ चलते हैं। मैं ऐसा धर्म नहीं चाहता, जो केवल विचारों तक सीमित रहे। मैं तो ऐसा धर्म चाहता हूं, जो प्रतिदिन के जीवन में उतरे, जिससे व्यवहार और विचार में आई खाई को पाटा जा सके। मैं यह नहीं चाहता कि व्यक्ति धर्मस्थान में पहुंचकर तो धार्मिक बन जाये और बाजार में जाकर धर्म को बिलकुल ही बिसार दे। धर्मस्थान में आकर तो अध्यात्म और दर्शन की ऊंची-ऊंची गुत्थियों को सुलझाये और दुकान पर जाकर दूसरों के गले पर छुरी चलाये। वह कैसा धार्मिक! यद्यपि यह सही है कि वातावरण का असर पड़ता है। पर उसमें जमीन और आसमान का-सा अन्तर तो नहीं होना चाहिए। धार्मिक धर्मस्थान, दुकान, आफिस, घर कहीं भी अपनी धार्मिकता को न भूले, ऐसा धर्म मैं चाहता हूं। वह धर्म है—अणुव्रत। अणुव्रत किसी सम्प्रदायविशेष का नहीं है। वह तो मानव धर्म है। इतना ही नहीं, आगे जाकर वह प्राणी धर्म है। इससे भी आगे जाकर वह निर्विशेषण रूप में केवल धर्म ही रह जाता है। हमें धर्म की उपासना करनी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४५. मानव की घोर पराजय

वही सच्चा धीर है

आज का मानव यह कहते हुए सुना जाता है कि वह नहीं चाहता, बेईमानी और अनैतिकता का आचरण करे। परन्तु क्या किया जाए, परिस्थितियां उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करती हैं। उसे लाचार हो प्रतिकूल पथ पर जाना पड़ता है। मैं इस कथन में उसकी आत्म-दुर्बलता का दर्शन करता हूं। माना कि परिस्थितियां जीवन में कठिनाइयां पैदा करती हैं। पर सच्चाई के मार्ग पर चलने के दृढ़संकल्पी—मनस्वी क्या कभी परिस्थितियों से दबे हैं। सही माने में धीर और कर्मठ वह है, जो प्रतिकूल परिस्थितियों को रौंदता हुआ सत्य और न्याय के मार्ग पर आगे बढ़ता जाये। परिस्थितियों की दुहाई देकर न्याय, सचाई पर स्थिर न रह सकने की बात कहने वाले सचमुच हीनबल हैं, कायर हैं, असाहसिक हैं। मेरी दृष्टि में परिस्थितियों के आगे घुटने टेकना मानव की घोर पराजय है।

मानव में कुछ इस प्रकार की मनोवृत्ति आज व्याप रही है कि अपनी दुर्बलता को ढकने के लिए तरह-तरह के बहाने बनाता रहता है। अलबत्ता कुछ अनैतिक वृत्तियों के लिए परिस्थितियों को भी कारण माना जा सकता है, क्योंकि उन्हें परास्त करने के लिए सुदृढ़ आत्मबल और साहस अपेक्षित होता है। पर बहुत-सारी दुष्प्रवृत्तियां तो ऐसी हैं, जिन्हें केवल व्यसनरूप में मानव स्वीकार करता है। मैं आप से ही पूछूं, शराब, भांग,गांजा, चरस एवं तंबाकू जैसे कुव्यसनों में मानव किन परिस्थितियों से बाध्य होकर गिरता है? स्पष्ट है, मिथ्या और कल्पित मस्ती एवं आनन्द के लिए ही तो वह ऐसा करता है। तब मुझे कहने दीजिये कि यह उसकी भयंकर भूल है। ऐसा कर मानव अपने जीवन, स्वास्थ्य और धन को वृथा गंवाता है।

मेरा घर पवित्र करें

मैं यात्रा पर था। मार्गवर्ती एक गांव से मैंने प्रस्थान किया। अनेक लोग साथ थे। ज्यों ही मैं एक घर के पास से होकर गुजरा, एक बहन ने अनुरोध किया—'महाराज! मेरे घर को अपने चरण-स्पर्श से पवित्र करें।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहन के अनुरोध में श्रद्धाभरा हृदय था। मैं उसे टाल नहीं सका। घर में कदम रखते ही मैंने देखा कि एक ओर एक व्यक्ति सकुचाता-सा खड़ा है। बहन ने शिकायत के स्वर में कहा—'महाराज! ये मेरे पति हैं। बहुत तम्बाकू पीते हैं। इन्हें उपदेश दीजिए। तम्बाकू छुड़ाइये।' बहन के हृदय में कितनी तड़प थी, अपने पति के सुधार के लिए! मैंने उसके पति से पूछा—'क्यों, ऐसा करते हो?' वह हाथ जोड़े खड़ा था। अटकते-अटकते बोला—'इ····त····नी···· ज्या····दा···· तो न····हीं···· पी····ता।' छूटते ही बहन प्रतिवाद के स्वर में बोली—'क्या कहते हैं, इतना ज्याद तो नहीं पीता। तम्बाकू की दुर्गंध से मेरा घर गंधिया रहा है। ये जितनी तम्बाकू पीते हैं, उसे छोड़ दें, तो उसके बचे हुए पैसों से मैं घर का सारा खर्च चला सकती हूं।' मैंने उस व्यक्ति को समझाया, तम्बाकू की बुराइयां बताई। परिणामतः वह तम्बाकू छोड़ने की प्रतिज्ञा के लिए उद्यत होने लगा। तभी मैंने कहा—'संकोच और दबाव से ऐसा नहीं करना है। यदि सचमुच ही तुम्हारे मन में तम्बाकू के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई हो, तभी ऐसा करना।' वह बोला—'आपके उपदेश का मुझ पर असर हुआ है। तम्बाकू पीने के प्रति सचमुच मेरे मन में घृणा पैदा हो गई है। मुझे आप प्रतिज्ञा करवाएं।' इस प्रकार हृदय-परिवर्तन की भूमिका पर उसने तम्बाकू न पीने का संकल्प किया।

ऐसी अनेक घटनाएं जब-तब हमारी पद-यात्राओं में घटती रहती हैं। ये घटनाएं दुर्व्यसनों में ग्रस्त आज के मानव का स्पष्ट चित्र उकेरती हैं। अपेक्षा है, जन-जन की संयम-चेतना जागे। वह दुर्व्यसनों-बुराइयों से छूटने के लिए संकल्पित हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४६. खमतखामणा

खमतखामणा का मूल्य

लोग कहते हैं—देश में अर्थ और नैतिकता की कमी है। पर मुझे लगता है, आज इससे भी बढ़कर कमी है मैत्री की। आज जहां भी देखें, इसका अभाव-सा लगता है।

आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की प्रगति को सहन नहीं करता। इतना ही नहीं, वह उसके पतन की बात भी सोचता है। एक संस्था दूसरी संस्था पर छींटाकशी और आक्षेप करती नहीं सकुचाती। वैमनस्य की भावना उत्तरोत्तर वृद्धिगत हो रही है। इन बुराइयों का बीज है—परस्पर में मैत्री, समन्वय और भ्रातृत्व का अभाव। खमत-खामणा मैत्री, समन्वय और भ्रातृत्व का पोषक-तत्त्व है।

खमतखामणा : क्या ? कैसे ?

खमत-खामणा का अर्थ है—स्वयं क्षमा मांगना और दूसरों को क्षमा देना। इससे आत्मा हल्की होती है और विचारों में पवित्रता आती है। प्रत्येक को प्रत्येक के साथ खमत-खामणा करना चाहिए। इसमें संकोच अपेक्षित नहीं है। छोटे-बड़े का प्रश्न भी अप्रासंगिक है। पहले और पीछे का सवाल भी गौण है।

जो व्यक्ति जिस क्षेत्र में कार्य करता हो, जिनके सम्पर्क में हो, जिनके साथ व्यवहार चलता हो, उन सबसे खमत-खामणा करना चाहिए। प्रतिपक्षियों के साथ तो अवश्य करना चाहिए। साक्षात् न हो सके तो अपने स्थान पर स्थित ही नामोल्लेखपूर्वक करना चाहिए। खमत-खामणा में जाति, पद, लिंग आदि का प्रश्न नहीं उठना चाहिए। ध्यान रहे, खमत-खामणा वही कर सकता है, जिसमें ऋजुता हो। परन्तु ऋजुता का अर्थ झुकना नहीं है। वह तो आत्मा की खुशबू है, गुण है।

आज मैं वर्षभर का चिंतन करके हल्का बनना चाहता हूं। पर इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि आज गत वर्ष का चिंतन करके हल्का बनूं और भविष्य में वैसा ही करूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्त्तव्य और प्रकृति का द्वन्द्व

संघ का अधिशास्ता होने के नाते मेरा अधिक व्यक्तियों से सम्पर्क रहता है। कर्तव्य की दृष्टि से गलती करनेवाले को उपालम्भ और प्रायश्चित्त देता हूं। अनुशासक यदि ऐसा न करे तो कोई भी संगठन मर्यादित और सुव्यवस्थित नहीं रह सकता।

प्रायश्चित्त किसको, किस समय, कितना देना चाहिए, यह निर्णय करना आचार्य का कार्य है। साधारण साधु इसके विधान को नहीं भी समझ सकता। इसी अनभिज्ञता के कारण कभी-कभी कोई-कोई साधु इस भाषा में भी सोच सकता है कि मुझे छोटी गलती पर कड़ा उपालम्भ मिला है, क्योंकि मैं अशिक्षित हूं। यहां सब पर समान दृष्टि नहीं है। मेरे साथ न्याय नहीं हुआ है।..... एक ओर उसका चिंतन है और दूसरी ओर मेरी समस्या। कड़ाई न करूं तो वह समझता नहीं और यदि करता हूं तो वह धैर्य खो बैठता है। वह नहीं सोच सकता कि व्यवस्था कैसे चलती है। कोई थोड़े उपालम्भ से ही समझ जाता है, तो किसी को कठोर उपालम्भ देना पड़ता है। किन्तु दोनों ही स्थितियों में मेरी दृष्टि एक ही रहती है कि प्रमाद/गलती का सुधार हो, परिष्कार हो। मेरा लक्ष्य रहता है, किसी में बुराई न रहे, जबकि उपलम्भ पाने वाले की दृष्टि रहती है कि दोनों को समान उपालम्भ मिले। प्रायश्चित्त लेने और देनेवाले के चिन्तन में यह भेद रहना अस्वाभाविक नहीं है।

उपालम्भ देने के बाद जब रात को चिंतन करता हूं तो मुझे बहुत बार थोड़ा दुःख भी होता है। कभी-कभी तो रात को नींद भी उड़ जाती है। मैं सोचता हूं, यदि वह गलती न करता तो मुझे उपालम्भ देने की आवश्यकता ही नहीं होती। यद्यपि बाद में मैं उसे सान्त्वना भी देता हूं। पर एक बार कड़ा उपालम्भ देना भी आवश्यक हो जाता है। इसलिए मैं कभी-कभी सोचा करता हूं कि अनुशासन का भार न आए तो अच्छा है। कठोर उपालम्भ देते समय कुछ-न-कुछ अपनी शांति भंग होने की संभावना रहती ही है। यह मेरे कर्त्तव्य और प्रकृति का द्वंद्व है।

अन्तर् का स्नान

शिष्यों की अपेक्षाओं और भावनाओं को ध्यान में रखना मेरा कर्त्तव्य है। पर मैं कभी-कभी अपने कर्त्तव्य को भी भूल जाता हूं। गुरु की वत्सलता सभी चाहते हैं, पर हो सकता है कि व्यस्तता में मेरा किसी की ओर ध्यान न भी गया हो। किसी के स्वास्थ्य के विषय में भी नहीं पूछा गया हो। यह प्रमाद हो जाता है। यद्यपि यह भी मानता हूं कि मेरे पूछने मात्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से कोई स्वस्थ नहीं हो जाता, फिर भी मेरे दो वाक्य कइयों के लिए पाथेय बन जाते हैं और वे शांति महसूस करते हैं, ऐसा अनुभव मुझे जब-तब होता रहता है। इस दृष्टि से मेरा पूछना आवश्यक बन जाता है।

आज मुझे रह-रहकर कई बातें याद आ रही हैं। अन्तरात्मा की आवाज अनायास ही निकल रही है। साधुओ! यात्रा में तुम लोग मेरे साथ रहते हो। किसी-किसी के चलने से पेट में दर्द भी हो जाता होगा। यात्रा में कौन थक गया है, चलने की किसी की शक्ति है या नहीं,''' इन बातों पर मैं बहुधा ध्यान नहीं दे पाता। केवल आदेश देता हूं—'तैयार हो जाओ। दस-बारह मील चलना है।' ऐसी स्थिति में किसी को कठिनाई/असुविधा भी हो सकती है।

कभी-कभी किसी से आवश्यक बात भी नहीं कर पाता हूं। रात में देर से सोने के कारण मेरे आस-पास सोने वालों की नींद का बाधक भी बन जाता हूं। प्रसंग आ गया तो एक बात और बता दूं। कभी-कभी तो आवश्यक कार्यवश प्रहर रात्रि के बाद दो-दो घंटे और निकल जाते हैं। तब यह सोचकर कि दूसरों की नींद में कुछ समय के लिए और बाधक बन जाऊंगा, बैठे-बैठे माला-जाप करने की बात को भी गौण कर देता हूं।

साधु गोचरी लेकर आ जाते हैं और मुझे दिखाने के लिए खड़े रहते है। मैं कार्य में व्यस्त होने के कारण उनकी ओर ध्यान नहीं दे पाता। उस समय भूल जाता हूं कि छोटे साधुओं को भूख लग गई होगी। कई बार विशेष प्रकरण चलने से व्याख्यान में भी देर हो जाती है। इससे भी साधु-साध्वियों को असुविधा हो सकती है।

पास में रहें या दूर रहें, आचार्य के नाते गण के सभी शिष्यों का योगक्षेम करना मेरा कर्त्तव्य है। उपेक्षा का भाव न होने पर भी कार्य-व्यस्तता के कारण कभी किसी की ओर अपेक्षित ध्यान नहीं भी दे पाता। आज मैं सभी साधु-साध्वियों से ज्ञात-अज्ञात में हुए किसी भी प्रकार के अप्रिय/कटु व्यवहार के लिए हृदय की ऋजुता और नम्रता से खमत-खामणा करता हूं। वे मुझे क्षमा दें, मैं उन्हें क्षमा देता हूं। इसी प्रकार जो साधु-साध्वियां यहां नहीं हैं, दूर-दूर स्थित हैं, उन सबसे भी यहां बैठा हुआ शुद्ध मन से खमत-खामणा करता हूं। मेरी प्रकृति ऐसी नहीं कि मैं किसी बात की गांठ बांधकर रखूं। कभी किसी के प्रति मन में कोई विचार आता है तो उसे कह देता हूं। वर्षों तक किसी बात की गांठ बांधकर रखने प्रकृति को मैं जघन्य- वृत्ति मानता हूं। यह वृत्ति व्यक्ति के लिए अत्यन्त घातक है

श्रावक-श्राविकाएं दूर-दूर से दर्शन-सेवा के लिए आते हैं। सबकी आर्थिक स्थिति समान नहीं होती। रेल की भी मुसीबतें होती हैं। इसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपरान्त भी वे उत्साह के साथ आते हैं। यथाशक्ति सेवा भी करते हैं। कई केवल दर्शन, सेवा, व्याख्यान आदि से ही संतुष्ट रहते हैं। कुछ-कुछ विशेष समय लेते हैं। यथाशक्ति उन्हें समय देता भी हूं। किन्हीं-किन्हीं को समय नहीं भी दे पाता। यह भी संभव है कि अपनी धुन में रहने के कारण किसी-किसी की वंदना भी स्वीकार न की हो। कभी-कभी तो लोग वंदना करके जाने लगते हैं, तब अचानक उनकी ओर ध्यान जाता है और मैं वंदना स्वीकार करता हूं। तब वे भाई-बहिन वापस आते हैं और मैं उनसे बात करता हूं। मेरे वे दो शब्द उनके लिये पाथेय बन जाते हैं और वे अपने आगमन को सार्थक मानते हैं। उस समय मुझे अत्यंत दर्द होता है, जब मैं बहनों को परस्पर इस आशय की बातें करते सुनता हूं कि एक मास सेवा की, डेढ मास सेवा की,···· पर आचार्यश्री से दो शब्द भी न बोल सकीं। आज मैं सभी श्रावक-श्राविकाओं से खमत-खामणा करता हूं।

यह मेरे अन्तर् हृदय की आवाज है, केवल प्रदर्शन या कृत्रिमता नहीं। केवल प्रदर्शन और कृत्रिमता हो तो उसका मूल्य ही क्या है। मैं आप लोगों से भी यही कहता हूं कि आप सभी परस्पर हृदय खोल कर खमत-खामणा करें। अपने बच्चों में भी संस्कार डालने का प्रयत्न करें। संस्कार डालने का मार्ग है—पाक्षिक खमत-खामणा। पाक्षिक दिन आप पहल कर स्वयं खमत-खामणा करें और उनको उसका अर्थ समझाएं।

यदि विशुद्ध रूप से खमत-खामणा की पद्धति को समाज अपनाए तो मेरा ऐसा विश्वास है कि भविष्य में वैमनस्य संसार से विदा हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४७. सुख और शांति का आधार

शांति : कहां और कैसे ?

यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य शांति चाहता है। पर शांति का सही मार्ग उसके हाथ नहीं लगा। उसकी धारणा है कि शांति के लिए प्रचुर खाद्य-सामग्री, वस्त्र और आधुनिक वैज्ञानिक सामग्री आवश्यक है। किन्तु उसकी यह धारणा सही नहीं है। जिन देशों में ये सारी सामग्रियां उपलब्ध हैं, वे भी शांति की खोज में हैं। इससे स्पष्ट है कि शांति भौतिक साधनों में नहीं है। पुराने महर्षियों ने अपनी तपःपूत साधना से अनुभव किया और बताया कि शान्ति आत्मा में है और उसकी प्राप्ति का साधन है अहिंसा या समता।

वैज्ञानिकों ने दुनियां को पदार्थवादी बना दिया। लेकिन वे स्वयं भयत्रस्त हैं। इससे सिद्ध है, शांति का साधन भौतिक पदार्थ नहीं, अपितु अहिंसा या समता है। अहिंसा का अर्थ है स्वयं निर्भय होना और दूसरों को अभयदान देना।

मूल्यवान् है अभयदान

भारत में दान की परम्परा कन्यादान, गोदान, सम्पत्तिदान आदि के रूप में प्राचीन काल से चलती आ रही है। लेकिन अभयदान से बढकर कोई दान नहीं है। कौन दे सकता है अभयदान ? मेरी दृष्टि में अभयदान वही दे सकता है, दूसरों को भयमुक्त वही बना सकता है, जो स्वयं अभय होता है।

शस्त्रों के परीक्षण से अन्य राष्ट्र भयभीत हैं। यदि आज कोई राष्ट्र अभय देना चाहे, तो उसे स्पष्ट घोषणा करनी होगी कि वह शस्त्रों का परीक्षण नहीं करेगा। परन्तु निःशस्त्रीकरण की चर्चा बहुलांश में वे राष्ट्र करते हैं, जिनके पास शस्त्र-शक्ति सीमित है। जिनके पास शस्त्रों का असीम संग्रह है, वे निःशस्त्रीकरण की चर्चा को अधिक महत्व नहीं दे रहे हैं, जबकि उन्हें अधिक देना चाहिए। कहा भी है—**'मार सके मारे नहीं, ताको नाम मर्द।'** शस्त्र-शक्ति होने के उपरांत उसका उपयोग न करने की घोषणा हो, तब वास्तव में अभयदान है।

कोई देश बड़ा है, कोई छोटा है। परन्तु इकाई रूप में सब समान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। कोई राष्ट्र दुःख से रहना नहीं चाहता। यह तभी संभव है, जब सभी राष्ट्र एक-दूसरे को अभय दें। सुखी बनने का जैसा अधिकार मुझे है, वैसा ही दूसरों को भी—जब तक मनुष्य इस चिंतन को लेकर नहीं चलेगा, तब तक उसकी वृत्ति कैसे सुधरेगी। वह अपने लिए दूसरों को कष्ट देने में क्यों सकुचाएगा। मैं देख रहा हूं, दूसरों का अहित करने की वृत्ति आज मनुष्य को सांप और बिच्छू से भी अधिक क्षुद्र बना रही है। सांप और बिच्छू प्रायः सताने पर दूसरों को काटते हैं। परन्तु मनुष्य बिना सताए भी दूसरों को कष्ट देने में नहीं सकुचाता।

सुख-दुःख की मीमांसा

सुख का साधन संग्रह-परिग्रह नहीं है। जितना भार संग्रह-परिग्रह का होगा, उतना ही वह दबेगा, नीचे जाएगा। एक करोड़पति जैसी सुख की नींद नहीं सोता, वैसी सुख की नींद सामान्य-सी नौकरी पाने वाला उसका ड्राइवर सोता है। इससे स्पष्ट है कि संग्रह-परिग्रह सुख का साधन नहीं है। संग्रह-परिग्रह सुख का साधन हो, तो साधु कभी सुख पा ही नहीं सकते। सुख तो परिग्रह—ममत्व के त्याग में है। माना, सब भिक्षुक नहीं बन सकते, किंतु आवश्यकता की पूर्ति से अधिक संग्रह करने की जो वृत्ति है, उसे तो छोड़ ही सकते हैं। ध्यान रहे, वही दुःख का हेतु है, अशांति का कारण है, अनर्थ की जड़ है।

संग्रहकर्ता मधुमक्खी के समान है। मधुमक्खी भावी जीवन की आशा ले पन्द्रह दिनों तक पुष्प-पराग का संग्रह करती है। पर सोलहवें दिन एक व्यक्ति आता है, और उसके छत्ते को तोड़ ले जाता है। उसका संग्रह संग्रहमात्र रह जाता है, उपयोगी नहीं बनता। यही स्थिति मनुष्य की है। वह संग्रह करता है। पर यमराज उसे अचानक उठा ले जाता है। पीछे सारा धन धरा-का-धरा ही रह जाता है।

धनवान् चाहते हैं, धन का संग्रह हमारे पास रहे। राष्ट्र चाहता है, धन का संग्रह कतिपय व्यक्तियों के पास न रहे। उसका उपयोग समाज के लिये हो। इसलिए सरकार टैक्स लगाती है। संग्रह से पैसा निकाल कर देना, उनकी दृष्टि में प्राणों को देना है। ऐसी स्थिति में वे अति दुःख पाते हैं। परन्तु बलात् देना पड़ता है। भगवान महावीर ने कहा— परिग्रह पाप का मूल है। इसके आय में दुःख है और व्यय में दुःख हैं। आज यह सूत्र प्रत्यक्ष रूप में समाने आ रहा है। उपदेश से न मानने वालों को बलात् मानना पड़ता है।

अर्थ-संग्रह पाप है, चाहे किसी भी स्तर पर क्यों न हो। समाजगत संग्रह और राष्ट्रगत संग्रह भी व्यक्तिगत संग्रह की तरह दोषपूर्ण हैं। समाज-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गत संग्रह समाज में अनेक प्रकार की बुराइयों को जन्म देता है। राष्ट्र भी अनावश्यक अति-संग्रह से क्रूर बनता है। क्रूर आक्रांता बनता है। आक्रांता संग्रह करता है। इस प्रकार क्रम चलता रहता है। गीता में भी कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुसः, संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः, कामात् क्रोधाभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

शांति का मंत्र

बहुत-सारे लोग इस भ्रांति को पालते रहते हैं कि धन शांति का साधन है। इसलिए भी वे धन-संग्रह के लिए सतत प्रयत्न करते रहते हैं। इस प्रयत्न में वे अर्थार्जन के लिए साधन-शुद्धि की बात को सर्वथा अनदेखी कर देते हैं। येन-केन-प्रकारेण अपनी तिजोरियां भरने की चेष्टा करते हैं। परन्तु धन से शांति-प्राप्ति की उनकी भ्रांति बहुत दिन नहीं टिकती। वह टूटने लगती है। पिछले दिनों की ही बात है। कई अमेरिकन लोग मेरे पास आए और उन्होंने मुझसे शांति के पथ के बारे में जिज्ञासा की। मैंने पूछा—'आप लोग तो अत्यन्त वैभवशाली हैं, फिर भी क्या शांत नहीं हैं?' उन्होंने उत्तर दिया—'शांत कहां, हम तो ज्यादा अशांत हैं। यदि शांति की अनुभूति करते तो आपसे शांति का मार्ग पूछते ही क्यों।' मैंने फिर कहा—'लोगों की तो धारणा है कि आप सुखी हैं, शांति का जीवन जीते हैं, पर इसके विपरीत आप तो कह रहे हैं कि हम अधिक अशांत हैं।'

इस प्रसंग से यह बहुत स्पष्ट हो जाता है कि धन का शांति से सम्बन्ध नहीं है, दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर शांति का साधन क्या है? शांति का एकमात्र साधन है—आत्म-संयम। आत्म-संयम का अर्थ है—अपने द्वारा अपने लिए अपना नियंत्रण।

हालांकि नियंत्रण कारागृह में भी होता है, पर वह स्वयं के द्वारा नहीं होता, दूसरों के द्वारा होता है। यही कारण है कि उसमें शांति नहीं मिलती। आप जानते ही हैं, जब खाद्य-पदार्थों पर कंट्रोल था, तब कैसी स्थिति थी। लोग कितनी कठिनाई और दुःख का अनुभव करते थे। दुःख की अनुभूति के साथ-साथ वह कंट्रोल तो लोगों के अनैतिक बनने में भी बहुत बड़ा निमित्त कारण बना था। इसलिए हम इस तथ्य को हृदयंगम करें कि नियंत्रण मात्र अच्छा नहीं है। केवल आत्म-नियंत्रण या आत्म-संयम अच्छा है। आप देखें, साधु-संत स्वेच्छा से खाद्य-संयम, वाक्-संयम, गति-संयम करते हैं। यह स्वैच्छिक संयम उनके लिए सुख और आनन्द का हेतु बनता है। लेकिन यही खाद्य-संयम, वाणी-संयम और गति-संयम यदि किसी पर बलात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थोप दिया जाए तो वह सुख और आनन्द का हेतु बनना तो कहीं रहा, इसके विपरीत दुःख और अशांति का निमित्त बन जाएगा।

प्रसंग दिल्ली का

कुछ वर्षों पहले की घटना है। भारत-पाकिस्तान के विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान से आए हुए हजारों-हजारों शरणार्थी दिल्ली में थे। उस समय मेरा भी दिल्ली जाना हुआ। मेरे बारे में जानकारी मिलने पर उनमें से बहुत-सारे लोग इकट्ठे होकर मेरे पास आए और अपनी दर्दभरी कहानी सुनाते हुए बोले—'महाराज ! हम बहुत दुःखी हैं। हमारा धन लुट गया। परिवार छूट गया। मकान आदि पाकिस्तान में रह गए।.....' और ऐसा कहते-कहते उनकी आंखें छलछला आईं। मैंने कहा—'भाइयो ! आपकी और मेरी स्थिति एक अपेक्षा से लगभग एक सरीखी ही है। हमारे पास भी एक पैसा नहीं है। परिवार भी हमारे साथ नहीं है। मकान तो बहुत दूर, कहीं चार अंगुल जमीन भी हमारे पास नहीं है। पर इस सरीखी स्थिति के बावजूद एक बड़ा अन्तर है। वह यह कि आप रोते हैं और मैं सदा हंसता-खिलता रहता हूं। इसका कारण भी बहुत स्पष्ट है—आपसे ये सारी चीजें छीन ली गई हैं, जबकि हमने स्वेच्छा से इनका परित्याग कर दिया है। आपके दुःख का मूल कारण धन, मकान आदि का न होना नहीं, अपितु इनका छीना जाना है। बन्धुओ ! सुख-दुःख का यही रहस्य है। सिगरेट पीनेवाले से सिगरेट छीन ली जाती है, तो उसे दुःख होता है। इसके विपरीत वही जब स्वेच्छा से उसका परित्याग करता है तो दुःख के स्थान पर आत्मतोष और सुख का अनुभव करता है। इसलिए सुख की चाह रखने वाले हर व्यक्ति को आत्म-संयम का अभ्यास करना चाहिए।

अणुव्रत आंदोलन के रूप में हमने जो एक व्यापक रचनात्मक कार्यक्रम चला रखा है, उसका घोष है—**'संयमः खलु जीवनम्'** अर्थात् संयम ही जीवन है। मेरी दृष्टि में वह कैसा जीवन जो संयत—आत्म-नियंत्रण से अनुप्राणित न हो। संयम के अभाव में वह दुःख का पर्याय बन जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति जीता हुआ भी जीता नहीं, मात्र उसे ढोता है।

आज के युग की सबसे बड़ी त्रासदी है कि जन-जीवन में संयम का अभाव हो रहा है। इसकी एक भयंकर दुष्परिणति यह है कि नैतिक मूल्य तेजी से विघटित हो रहे हैं। जो भारतवर्ष किसी समय चारित्रिक शिक्षा—आचार के लिए संसार का गुरु कहलाता था, उसी भारतवर्ष में नैतिकता और चरित्र का दुर्भिक्ष-सा नजर आता है। क्या भारतीय जनों के लिए यह एक गंभीर चिंता का विषय नहीं है। पर चिंता किसी भी समस्या का समाधान भी तो नहीं है। इसलिए चिंता नहीं, चिंतन करने की अपेक्षा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलबत्ता इस सन्दर्भ में एक बात ध्यान देने की है। बाढ आने पर सबसे पहले उसे नियंत्रित करने का प्रयास और उपाय किया जाता है। अन्यान्य बातों पर बाद में चिंतन होता है। आज देश में अनैतिकता, भ्रष्टाचार और हिंसा का जो प्रवाह है, उसका रूप बाढ का-सा ही है। इस स्थिति में उस प्रवाह को रोकने का प्रयास और उपाय करना हमारी प्राथमिक अपेक्षा है। अणुव्रत आंदोलन, जिसकी प्रासंगिक चर्चा मैंने पूर्व में की, इस दिशा में एक सशक्त अभियान है। यह जन-जन की संयम एवं नैतिक चेतना को जगाकर अनैतिकता, भ्रष्टाचार एवं हिंसा की बाढ को नियंत्रित करना चाहता है। मेरा विश्वास है, यदि जन-सहयोग प्राप्त हुआ तो इसके बहुत ही अनुकूल परिणाम आएंगे।

अनवरत चलनेवाली प्रक्रिया

बहुत-सारे लोग मुझसे कहते हैं, इस देश में भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध आए। इस युग में महात्मा गांधी का सान्निध्य मिला। और भी अनेक महापुरुषों ने समय-समय पर इस देश में जन्म लिया। वे जब इस देश को बुराइयों से सर्वथा मुक्त नहीं कर सके, इसे स्वर्ग नहीं बना सके, तब क्या आप ऐसा करने में सफल होंगे? इस सन्दर्भ में मैं इस भाषा में सोचता हूं कि किसी भी महापुरुष ने पूरे देश को सुधारने अथवा स्वर्ग बना देने का कोई दावा नहीं किया था। दावा फिर भी आगे की बात है, ऐसी कल्पना भी शायद नहीं की होगी। तब भला मैं कैसे कर सकता हूं। हां, सबने अपने-अपने समय में अपनी-अपनी शक्ति और पुरुषार्थ का उपयोग देश को सुधारने, उसे बुराइयों से मुक्त करने में किया। मैं भी अपने समय में अपनी शक्ति इस कार्य में लगा रहा हूं। पर इस प्रयत्न से देश बुराइयों से सर्वथा मुक्त होकर स्वर्ग बन जाएगा, ऐसी घोषणा मैं नहीं करता। फिर भी निराश होने की कोई बात नहीं है। मैं मानता हूं, बुराइयो से संघर्ष करना किसी युगविशेष की अपेक्षा नहीं, अपितु यह एक अनवरत चलनेवाली प्रक्रिया है। मुझे प्रसन्नता है कि मैंने इस कार्य में अपनी शक्ति का सदुपयोग किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४८. संकल्प का चमत्कार

'अबंभं परियाणामि, बंभं उवसंपज्जामि'—यह आवश्यक-सूत्र का एक संकल्प-सूत्र है। साधक संकल्प करता है—'मैं अब्रह्मचर्य को छोड़ रहा हूं और ब्रह्मचर्य को स्वीकार कर रहा हूं।' यह यावज्जीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य का संकल्प है। अति विशिष्ट स्थिति है। कोई-कोई व्यक्ति ही यह संकल्प स्वीकार कर सकता है। सब नहीं कर सकते। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे ब्रह्मचर्य की साधना बिलकुल भी नहीं कर सकते। यावज्जीवन के लिए अब्रह्मचर्य नहीं छोड़ सकते तो क्या, उसकी कोई सीमा तो कर ही सकते हैं, स्वदार-संतोषी और स्वपति-संतोषी होने का संकल्प तो ग्रहण कर ही सकते हैं।

जीवन-रूपांतरण का सूत्र

संकल्प जीवन के रूपांतरण और विकास का एक महत्वपूर्ण सूत्र है। इससे व्यक्ति के विचारों में चट्टान की-सी दृढ़ता आती है। हालांकि शक्ति की तरतमता के कारण व्यक्ति-व्यक्ति के संकल्प में तरतमता रहना स्वाभाविक है, पर यह कोई बहुत महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। बहुत महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति मानसिक या वाचिक, स्वयं या गुरु-साक्षी से जो संकल्प करता है, उसके प्रति उसकी निष्ठा कितनी प्रगाढ़ है। यदि स्वीकृत संकल्प के प्रति व्यक्ति दृढ़निष्ठ रहता है तो उसका एक छोटा-सा संकल्प भी उसकी संपूर्ण जीवन-धारा को मोड़ सकता है।

प्रसंग विजय-विजया का

प्राचीन समय की घटना है। एक नगर में आचार्य प्रवचन कर रहे थे। प्रवचन का प्रतिपाद्य विषय था—ब्रह्मचर्य। सभी वर्गों के लोग समान रूप से प्रवचन-सभा में उपस्थित थे। आचार्य ने प्रतिपाद्य विषय का सांगोपांग विवेचन किया। विवेचन अत्यन्त हृदयग्राही था। श्रोताओं की अन्तरात्मा जाग उठी। प्रायः सभी ने यथाशक्ति ब्रह्मचर्य का व्रत अंगीकार किया। किसी ने एक मास तक, किसी ने एक वर्ष तक और किसी ने जीवन-भर अब्रह्मचर्य का परित्याग किया। विद्यार्थी विजय और विजया भी प्रवचन सभा में उपस्थित थे। प्रवचन से प्रेरित होकर विजय ने संकल्प लिया—मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवनपर्यंत कृष्ण पक्ष में ब्रह्मचारी रहूंगा। विजया ने यावज्जीवन शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की।

प्रवचन संपन्न हुआ। सभा विसर्जित हुई। सभी लोग अपने-अपने घर लौट गए।

कुछ वर्ष बीते। संयोगवश विजय का विवाह विजया के साथ हुआ। दाम्पत्य जीवन में कटुता न आ जाए, यह सोच विजया ने प्रथम संगम में ही अपना स्पष्टीकरण दिया—'पतिदेव! मैंने शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा कर रखी है।'

सुनते ही विजय के चेहरे पर चिंता की गहरी रेखाएं खिंच गईं। विजया ने उसका चेहरा पढा और विनम्रतापूर्वक पूछा—'शुक्ल पक्ष के मात्र तीन ही दिन तो शेष हैं, फिर इतनी चिंता की क्या बात है?'

विजय बोला—'चिंता का कारण यह नहीं है। चिंता का कारण यह है कि हम इस जीवन में कभी भी गृहस्थी नहीं बसा सकेंगे।'

'क्यों?' विजया एकदम चौंकी।

विजय ने गहरा निःश्वास छोड़ते हुए कहा—'तुम्हारी तरह मैंने भी जीवनपर्यंत कृष्ण पक्ष में ब्रह्मचारी रहने का संकल्प ले रखा है।'

इस उत्तर के साथ ही चिंता का भार विजय से उतरकर विजया पर आ गया।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन पद्धति के अनुसार भारतीय नारी जीवन में मात्र एक बार पाणिग्रहण करती है। किसी कवि ने कहा है—

सिंह संगम, सज्जन वयण, केल फले इकबार।
तिरिया तेल, हमीर हठ, चढै न दूजी बार॥

कई भाइयों ने मुझसे प्रश्न किया—'विधवा-विवाह के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?' इस सन्दर्भ में मेरे विचार बहुत स्पष्ट हैं—आत्म-हित की दृष्टि से तो मैं विवाह के पक्ष में ही नहीं हूं। लेकिन समाज-व्यवस्था के औचित्य की दृष्टि से समझा जाए तो पति की मृत्यु के पश्चात् जिस प्रकार पत्नी दूसरा विवाह नहीं करती, वैसे ही पति को भी पत्नी की मृत्यु के पश्चात् दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। व्यवस्था में जो किसी एक पक्ष पर ही दबाव है, वह कब तक टिक सकेगा, मैं नहीं जानता।

हां, तो विजया चालू परम्परा की याद दिलाती हुई बोली—'पतिदेव! आप तो पुरुषपात्र हैं, स्वतंत्र हैं, इसलिए दूसरा विवाह कर लें। आपको मेरी तरफ से कोई संकोच और कठिनाई नहीं होनी चाहिए, इसलिए मैं इसके लिए आपको सहर्ष स्वीकृति देती हूं। अब रही बात मेरी। सो मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य पालन करती हुई आपकी सेवा करूंगी।'

विजय के मन में चिंतन उभरा—नारी का सहज स्वभाव है कि वह सौत से ईर्ष्या करती है। पर कैसा आश्चर्य कि यह तो अपनी सौत को सहर्ष आमंत्रण दे रही है। लगता है, यह कोई सामान्य स्त्री नहीं, अपितु विलक्षण स्त्री है, साक्षात् देवी है। और इस चिंतन के साथ ही उसका पुरुषत्व जाग उठा। उसने विजया से कहा—'देवी! क्या तुमने मुझे बिलकुल कायर-कमजोर समझ लिया है, जो ऐसी बात कह रही हो। तुम तो आजीवन ब्रह्मचारी रहो और मैं दूसरा विवाह करूं, यह कभी नहीं हो सकता। पुरुष हूं तो क्या, मैं भी आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा।'

बस, दोनों एक ही पथ के पथिक बन गए। उन्होंने परस्पर गंभीर चिंतन कर निश्चय किया—जब तक हमारा यह संकल्प अप्रकट रहेगा, तब तक हम घर में ही रहेंगे। स्थिति के प्रकट हो जाने पर संयम स्वीकार कर लेंगे। दीक्षित हो जाएंगे।

ऐसा ही हुआ। वर्षों तक घर में रहते हुए वे दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। और जब केवलज्ञानी मुनि द्वारा उनकी प्रतिज्ञा प्रकट हो गई तो दोनों दीक्षित बन गए।

मक्खन अग्नि पर रहे और न पिघले, नौका भंवर में चले और न डूबे, पानी ढाल की ओर भी न बहे, ये सब आश्चर्यकारी बातें हैं। पर इनसे भी कहीं ज्यादा आश्चर्य की बात यह है कि पुरुष और स्त्री दोनों एक शय्या पर सोएं और शील खण्डित न हो।

कूप-मंडूक कैसे यह विश्वास करे कि समुद्र तालाब से भी बड़ा होता है। साधारण मनुष्य कैसे समझे कि यौवन की उद्दाम तरंगों में भी एक शय्या पर रहकर ब्रह्मचर्य पाला जा सकता है। पर विजय-विजया ने इस अविश्वसनीय बात को भी सच करके दिखा दिया कि एक शय्या पर रहकर भी ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है। काजल की कोठरी में रहकर भी कालिमा से सर्वथा अछूता रहा जा सकता है।

यह एक वास्तविकता है कि गृहस्थ के लिए ब्रह्मचर्य-पालन करने की दृष्टि से वातावरण उतना अनुकूल नहीं होता, जितना साधु के लिए होता है। यही कारण है कि गृहस्थ यदि ब्रह्मचारी या स्वदार-संतोषी (स्वपति-संतोषी) बनता है तो उसको महत्व की दृष्टि से देखा जाता है। उपाध्याय विनयविजयजी के शब्दों में—

अदधुः केचन शीलमुदारं, गृहिणोऽपि परिहृतपरदारम्।
यश इह संप्रत्यपि शुचि तेषां, विलसति फलिताऽफलसहकारम्॥

बूर का लड्डू खाने वाला भी पश्चात्ताप करता है और न खाने वाला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी। भोग की भी तो यही बात है। उसे भोगने वाला उसके कटु परिणाम का अनुभव करके दुःखी बनता है और उससे वंचित रहनेवाला उसकी लालसा से दुःख पाता है। सुखी वह होता है, जो भोग से बचे, उसका परित्याग करे।

संकल्प की अचिन्त्य/अद्भुत शक्ति का यह सुन्दर उदाहरण है। इस उदाहरण से प्रेरणा लेते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी संकल्प-चेतना को जगाकर ब्रह्मचर्य की साधना में गतिशील होना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४९. समाज-कल्याण की प्रक्रिया

मनुष्यों के समूह को समाज कहा जाता है। समूह पशु-पक्षियों का भी होता है, पर उसे समाज नहीं, समज कहते हैं। समाज और समज केवल नामान्तर ही नहीं है, अपितु दोनों में गुणात्मक अंतर भी है। मनुष्य विवेक-शील प्राणी है। उसमें चिंतन होता है। पशु भार बहुत वहन कर सकता है, पर विवेक से शून्य है। वह चिंतन नहीं कर सकता। यह चिंतन-विवेक ही दोनों की भेदरेखा है। नामान्तर की बात तो गौण है।

विवेक एक शक्ति है। मैं मानता हूं, शक्ति शक्ति ही होती है। उसका उपयोग सत् के रूप में भी हो सकता है और असत् के रूप में भी। भला आदमी जहां उसे सत् के रूप में काम लेता है, वहीं बुरा आदमी उसे असत् के रूप में। इस बात को उलट कर हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि शक्ति को सत् रूप में उपयोग करने वाला भला होता है और उसका असत् रूप में उपयोग करनेवाला बुरा। कहा भी गया है—

विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परपीड़नाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतद्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

समाज में कौन अच्छा है और कौन बुरा, इस बारे में व्यक्तिगत रूप में कुछ भी कहना उचित नहीं है। क्यों? इसलिए कि वह आक्षेप हो जाता है।

सन्दर्भ आचार्य भिक्षु का

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु से प्रश्न किया गया—'सच्चे साधु कौन हैं और असाधु कौन हैं?' उन्होंने दृष्टान्त की भाषा में उत्तर दिया—'वैद्य के पास एक अन्धा व्यक्ति आया और प्रश्न की भाषा में बोला—वैद्यजी महाराज! आप घर-घर जाते हैं। यह तो बतलाइये कि संसार में कपड़े पहने हुए लोग कितने हैं और नंगे कितने हैं? वैद्य ने कहा—मैं तुम्हारी आंखें ठीक कर देता हूं, फिर तुम स्वयं देख लेना।' दृष्टांत का हार्द समझाते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा—'सच्चे साधु के लक्षण मैं बता देता हूं, फिर निर्णय तुम स्वयं कर लेना।'

मैं देखता हूं, लोग औरों की आलोचना-प्रत्यालोचना में अत्यधिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रस लेते हैं। यह वृत्ति अच्छी नहीं है। कैसी बात है कि बुराई का ग्रहण शीघ्र होता है, लेकिन अच्छाई का नहीं। मेरी दृष्टि में इसके दो कारण हो सकते हैं—परिस्थिति और अपनी कमजोरी। इन दोनों में भी अपनी कमजोरी ही मुख्य या मूल कारण है। परिस्थिति भी कारण बनती है, परन्तु वह मुख्य कारण नहीं है। यह कैसी बात है कि व्यक्ति दूसरों के दोष देखने के लिए तो सहस्राक्ष बन जाता है पर अपने दोष देखते वक्त दोनों आंखों को भी मूंद लेता है। यही मूल में भूल है। इस भूल का सुधार होना नितांत अपेक्षित है।

जरूरी है व्यक्ति-निर्माण

जैसा कि मैंने पूर्व में कहा, मनुष्यों का समूह समाज है। प्रश्न है, समाज-कल्याण या समाज-निर्माण की प्रक्रिया क्या है? मेरे अभिमत में समाज-कल्याण के लिए व्यक्ति-कल्याण या व्यक्ति-निर्माण पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए। व्यक्ति-निर्माण के बिना समाज-निर्माण कठिन ही नहीं, असंभव भी है। एक आध्यात्म-साधक या साधु, जिसका जीवन सहज निर्मित होता है, स्वयं साधना करता हुआ हजारों-हजारों के लिए सत्पथ पर चलने की प्रेरणा बनता है, लाखों-लाखों का आध्यात्मिक पथ-दर्शन करता है। पर दुर्भाग्य से वही जब अपने साधना-पथ से भ्रष्ट हो जाता है तो लाखों-लाखों लोगों को गलत रास्ते पर भी ले जा सकता है, क्योंकि जनता में साधु के प्रति सहज विश्वास होता है। यही बात कार्यकर्ताओं के लिए भी है। यदि एक कार्यकर्ता का जीवन निर्मित है, सुसंस्कारित है तो वह समाज-कल्याण की दिशा में अच्छा कार्य कर सकता है। इसके ठीक विपरीत यदि उसका जीवन-स्तर गिरा हुआ है तो समाज-कल्याण या समाज-निर्माण के कार्य की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए प्रत्येक कार्यकर्त्ता को चाहिए कि वह प्रतिदिन चिंतन करे, आत्म-निरीक्षण करे कि वह समाज-कल्याण की दिशा में कदम-कदम आगे बढ़ रहा है या नहीं? कहीं वह अकल्याण तो नहीं कर रहा है? गीता का श्लोक **'उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत्'** तथा जैनागम की **'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'** गाथा इसी की प्रेरणा है।

व्यक्ति-निर्माण के सन्दर्भ में एक बात विशेष रूप से कहना चाहता हूं। यों तो समाज-निर्माण और राष्ट्र-निर्माण के लिए एक-एक व्यक्ति का निर्माण आवश्यक है, पर प्रारम्भ में कुछेक व्यक्तियों को चुना जाना चाहिए। आप देखेंगे कि जितना कार्य एक निर्मित कार्यकर्ता कर सकता है, उतना कार्य करोड़ों रुपये खर्च करने पर भी नहीं हो सकता। जिस प्रकार एक-एक दीपक से सैकड़ों-सैकड़ों दीपक जल सकते हैं, उसी प्रकार उन व्यक्तियों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा समाज-निर्माण और राष्ट्र निर्माण का कार्य सुगम हो सकता है।

व्यक्तियों के चयन में मनोवैज्ञानिक दृष्टि अपेक्षित है। जिन व्यक्तियों का चुनाव हो, उनके मन में निर्मित होने की ललक होनी चाहिए। अध्यात्म के प्रति आंतरिक रुचि और निष्ठा का होना उनकी दूसरी अर्हता है। इसके साथ ही यह भी नितांत अपेक्षित है कि वे यशलोलुपता और सत्ता-आकर्षण से दूर हों। इस आधार पर चुने गए व्यक्तियों को आचार का व्यवस्थित प्रशिक्षण मिलना चाहिए। मैं मानता हूं, इस क्रम से जो कार्यकर्ता तैयार होंगे, वे समाज-कल्याण और राष्ट्र-निर्माण में अपनी निर्णायक भूमिका निभा सकेंगे।

समाज-कल्याण और राष्ट्र-निर्माण के लिए समर्पित कार्यकर्ताओं का कार्य ही उनकी साधना होनी चाहिए। वे इस भाषा में कभी न सोचें कि वे समाज पर अहसान कर रहे हैं। चिंतन यही रहे कि वे मात्र अपना कर्तव्य-पालन कर रहे हैं। इस प्रकार की कार्यशैली एवं सोच वाले कार्यकर्ता ही समाज-कल्याण और राष्ट्र-निर्माण के अपने उद्देश्य में सफल हो सकते हैं।

संयम की प्रतिष्ठा हो

समाज-कल्याण और राष्ट्र-निर्माण के लिए संयम को सर्वोच्च प्रतिष्ठा देनी होगी। बड़ा वही है, जो संयमी है। जो जितना बड़ा त्यागी है, वह उतना ही बड़ा है। यदि यह मूल्य स्थापित होगा तो समाज और राष्ट्र में सहज रूप से संयम के प्रति आकर्षण का भाव बढ़ेगा। पर दुर्भाग्य से आज संयम का स्थान अर्थ ने ले लिया है। जो अर्थ साधन है, वह आज साध्य बन गया है। जो अर्थ चिकित्सा मात्र है, आज वह सब कुछ बन गया है। यही कारण है कि लोग अर्थपति को बड़ा मानते हैं और स्वयं भी अर्थपति बनने का प्रयत्न करते हैं। अर्थ के इस अवांछित प्रभाव एवं मूल्य ने समाज में अनेकानेक विकृतियों को जन्म दिया है। अर्थ के इस प्रभाव एवं मूल्य को हर स्थिति में कम करने की अपेक्षा है। उसके स्थान पर संयम का महत्त्व बढ़ना आवश्यक है। पर यह तभी संभव है, जब समाज-सेवकों एवं कार्यकर्ताओं का जीवन संयम से अनुप्राणित हो।

समाज-कल्याण के उद्देश्य से कार्य करने वाले लोगों के लिए यह नितांत अपेक्षित है कि उनका जीवन दूसरों के लिए प्रेरक हो। यों चुनाव के समय प्रत्याशी बनने वाले सभी लोग समाज-सेवक बन जाते हैं। समाज-कल्याण और राष्ट्र-निर्माण की बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञाएं करते हैं। पर उनमें से कितने व्यक्तियों के मन में समाज-कल्याण और राष्ट्र-निर्माण की भावना और क्षमता होती है, यह आप से छुपा नहीं है। प्रतिपक्षी उम्मीदवार को जीतते देख वे कैसे-कैसे गलत हथकंडे अपनाते हैं, यह मुझे बताने की जरूरत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं। ऐसे समाज-सेवकों से समाज-कल्याण और राष्ट्र-निर्माण की क्या अपेक्षा की जा सकती है।

अणुव्रत चिकित्सा है

जीवन को सही दिशा देने के लिए समाज-सेवक अणुव्रत को अपनाएं। अणुव्रत स्वस्थ समाज-निर्माण का संकल्प है। अणुव्रत का लक्ष्य और प्रयत्न है कि समाज के जिस क्षेत्र में जो बुराई प्रविष्ट हो गई है, उसे व्यक्ति की संयम और संकल्प-चेतना को जगाकर दूर किया जाए। दूसरे शब्दों में कहूं तो यह एक चिकित्सा है। आप जानते हैं कि रोगों को मिटाने और स्वस्थता प्रदान करने लिए आयुर्वेदिक, ऐलोपैथिक, प्राकृतिक आदि अनेक चिकित्सा-पद्धतियां काम कर रही हैं। कहीं-कहीं सूर्य की किरणों एवं प्रार्थना से भी चिकित्सा की जाती है। इस क्रम में अणुव्रत की चिकित्सा अपने-आप में विचक्षण है, अद्भुत है। क्यों ? इसलिए कि वह व्यक्ति-व्यक्ति में व्याप्त बुराइयों एवं अनैतिकता की चिकित्सा कर समाज को स्वस्थता प्रदान करता है। मैं आशा करता हूं कि आप अणुव्रत की आचार-संहिता को अपनाने में उत्साह का प्रदर्शन करेंगे। यह न केवल आपके जीवन के लिए वरदायी बनेगा, स्वस्थ समाज और उन्नत राष्ट्र-निर्माण के लक्ष्य की दिशा में आगे बढने में भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५०. सुख का मार्ग

सब दुःखी हैं

यह संसार दुःखमय है। आप जिस किसी से आज पूछकर देख लें, कहेगा—'मैं बड़ा दुःखी हूं, बहुत परेशान हूं।' शहरों में बड़े-बड़े सेठ रहते हैं, मिल-मालिक बसते हैं। उनके रहने के लिए बड़ी-बड़ी कोठियां और आलीशान बंगले हैं, सैर-सपाटा करने के लिए पांच-पांच, सात-सात कारें हैं, बातचीत करने के लिए टेलीफोन (दूरभाष) हैं, कामकाज करने के लिए नौकर-नौकरानियों की पूरी टोली है। करोड़ों की संपत्ति के वे मालिक हैं, लाखों की मासिक आय है। उनसे कोई पूछे तो कहेंगे—'हम बड़े संकट में हैं। टेक्स पर टेक्स लग रहे हैं। यह सरकार सांस तक नहीं लेने देती। सेलटेक्स ने मार दिया, इनकमटेक्स ने खा लिया। इतना ही नहीं, सम्पत्तिटेक्स और। अरे! कैसी बात है, घर पर पड़े धन पर भी टेक्स। अब मृत्युटेक्स सामने दिखाई दे रहा है। बाप रे बाप! जनमने पर टेक्स, मरने पर टेक्स, खाने-पीने और खर्चे पर भी टेक्स। ऐसी स्थिति में न दिन में चैन है और न रात को सुख से नींद। इस हालत में जीएं तो कैसे जीएं।'

गांव के लोगों से पूछा जाए तो वे कहेंगे—'अजी! क्या बताएं, कुछ कहने जैसी बात नहीं है। बहुत बुरा जमाना आया है। रोजगार नहीं, धन्धा नहीं, पूरी मजदूरी नहीं, खेती में पूरा अनाज नहीं, बाल-बच्चों को शरीर ढांकने को कपड़ा नहीं, रहने को मकान नहीं, छप्पर छाने को फूस नहीं, गायों-भैंसों के दूध नहीं,···। बड़े दुःखी हैं। इधर देखो दुःख, उधर देखो दुःख, जिधर देखो उधर दुःख-ही-दुःख।'

शहर वाले सोचते हैं कि गांवों के लोग सुखी हैं। मोटा खाते हैं, मोटा पहनते हैं और हाथ से काम करते हैं। शुद्ध दूध है। शुद्ध घी है। ताजा फल-सब्जी है। शुद्ध हवा है। खुले मकान हैं।··· यहां शहर में दूषित हवा है, दिन भर धां-धां, एक मिनट के लिए चैन नहीं, शान्ति नहीं,···। हम तो बिलकुल नारकीय जीवन व्यतीत करते हैं।

गांव के लोग सोचते हैं कि शहर के लोग आनन्द करते हैं। ठाठ-बाट से रहते हैं। इधर-उधर जाने के लिए कारें और बसें हैं। सुख-सुविधा के सभी साधन हैं। बढ़िया खाते हैं, सुन्दर-से-सुन्दर, नए-से-नए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फैशन के कपड़े पहनते हैं। अच्छे-अच्छे बड़े-बड़े बाजार हैं। जो चाहो सो खरीदो। मौज तो शहरी जीवन में है। हम तो पशुओं के बराबर पशु बनकर जीते हैं।

संसार सुखाभिलाषी है। लोग सुख-प्राप्ति के लिए हाय-त्राय करते हैं, दौड़-धूप करते हैं। शहरवासी सोचते हैं, गांवों में सुख है और गांववाले सोचते हैं कि शहरों में सुख है। पर सचाई तो यह है कि सुख न शहरों में है और न गांवों में ही। फिर सुख कहां है? सुख है अपने-आप में, अपनी वृत्तियों में, संतोष में। धन में, खाने-पीने में और ऐश-आराम में सुख खोजना नासमझी है। दूसरों के सुखों को लूट कर सुखी बनने की बात निरी भ्रान्ति है।

पाप-प्रक्षालन की प्रक्रिया

आज मनुष्य ने ऐसा मान लिया है कि मैंने चाहे जितने भी पाप किए, चाहे जितनी भी चोरियां कीं, डाके डाले, खून किए, हर तरह की बुराइयां कीं, पर एक बार गंगा में डुबकी लगाई, तीर्थस्नान किया और सब पाप माफ, सब पाप साफ। दिन-रात पाप किए, पर प्रातः उठकर भगवान के मन्दिर में धूप-आरती की, तिलक-छापे लगाए कि सारे पाप समाप्त। करोड़ों का ब्लैक किया और दो-चार हजार पुण्य के नाम पर कहीं लगा दिए कि सारा खाता बराबर। समझ नहीं पड़ती कि यह सिद्धान्त आया कहां से? आदमी ने सीखा कहां से? बड़ा सीधा रास्ता निकाल लिया यह तो पाप-प्रक्षालन का। पर मानव भूल जाता है शास्त्रों के कथन को—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'**—जो कुछ तूने किया है, वह भोगना पड़ेगा। तत्व यह है कि गंगा में डुबकी लगाने या तीर्थस्नान करने से पाप समाप्त नहीं होते। आज से आप इस बात को नोट कर लें। पर मात्र डायरी में नोट करने से काम नहीं चलेगा। हृदय में नोट करें। नदी में स्नान करने से शरीर का मैल धुल सकता है, पाप नहीं।

प्रसंग महाभारत का

महाभारत के युद्ध के पश्चात् पांडवों ने तीर्थयात्रा करने का निर्णय किया। वे श्रीकृष्ण को प्रणाम करने के लिए गए। श्रीकृष्ण ने कहा—'जा रहे हो तो एक छोटा-सा काम मेरा भी करते आना। यह मेरी एक तूम्बी ले जाओ। तीर्थों में जहां-जहां तुम लोग स्नान करो, वहां-वहां इस तूम्बी को भी स्नान करा लेना।'

पाण्डवों ने सादर श्रीकृष्ण की आज्ञा शिरोधार्य की और वहां से प्रस्थित हो गए।

तीर्थयात्रा सम्पन्नकर पांडव पुनः द्वारिका आए और श्रीकृष्ण से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोले—'प्रभो ! आपके आशीर्वाद से हमारी तीर्थयात्रा सानन्द सम्पन्न हो गई है। हम शुद्ध हो आए हैं, महाभारत का सारा बोझ उतार आए हैं।' श्रीकृष्ण ने अपनी तूम्बी के बारे में पूछा तो उन्होंने तत्काल वह तूम्बी उन्हें सुपुर्द की। श्रीकृष्ण ने तूम्बी को काटा और उसका एक छोटा-सा टुकड़ा मुंह में रखा। मुंह एकदम कड़वाहट से भर गया। श्रीकृष्ण ने थू-थू करते हुए उसे थूका और पांडवों से कहा—'लगता है, तुम लोगों ने मेरी बात का ध्यान नहीं रखा। इस तूम्बी को तीर्थों में स्नान नहीं करवाया।' श्रीकृष्ण के इस कथन पर द्रौपदी सहित पांचों पांडव एकदम से बोले—'प्रभो ! यह कैसे हो सकता है कि हम आपकी बात का ध्यान न रखें। हमने आपकी बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। हम जितने भी तीर्थों में गए, उन सभी में इस तूंबी को स्नान करवाया है, बल्कि दो-दो बार करवाया है।' श्रीकृष्ण ने कहा—'कैसी बात कहते हो। जब दो-दो बार स्नान करवाया, तब फिर यह कड़वी क्यों रही ? इसका कड़वापन मिटा क्यों नहीं ?' पांडव बोले—'प्रभो ! आप तो ज्ञानी पुरुष हैं, फिर आपको क्या बताएं। ऊपर से स्नान करवाने से भला इसकी आन्तरिक कड़वाहट कैसे मिट सकती है।'

श्रीकृष्ण ने कहा—'मैं तो समझता हूं, इस तथ्य को। पर तुम कहां समझ रहे हो। जब तूम्बी का आंतरिक कड़वापन भी केवल तीर्थस्नान मात्र से नहीं जा सकता, फिर तुम्हारी अन्तरात्मा के पाप तीर्थों में स्नान करने मात्र से कैसे धुलेंगे ?' पाण्डव बोले—'प्रभो ! यह बात आपने पहले ही क्यों नहीं बता दी ? यदि तीर्थयात्रा पर जाने के समय आप यह बता देते तो हम जाते ही क्यों।' श्रीकृष्ण ने कहा—'कहने के लिए तो मैं यह बात उस समय भी कह सकता था, पर उस समय कहने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। क्यों ? इसलिए कि जब लाखों लोग पाप-प्रक्षालन के लिए तीर्थयात्रा पर जाते हैं, तब मेरी यह बात तुम लोगों के जचती नहीं, समझ में नहीं आती। पर मुझे बात तो समझानी-ही समझानी थी। इसीलिए मैंने इस तूम्बी को तुम्हारे साथ तीर्थयात्रा करवाई। देखो—

आत्मानदी संयमतोयपूर्णा, सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

वास्तविकता यह है कि अन्तरात्मा की शुद्धि का उपाय संयम, तप और त्याग है। जल में स्नान करने से आत्म-शुद्धि नहीं होती।'

बन्धुओ ! अणुव्रत आंदोलन भी तो यही कहता है। वह जन-जन से अपने जीवन को संयम, त्याग और तप से भावित करने की प्रेरणा करता है। छोटे-छोटे व्रतों को अंगीकार करने का आह्वान करता है। आप इसके आह्वान को सुनें और अपना जीवन संयम-त्यागमय बनाएं। आपका जीवन सुख से भर जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५१. सुख-दुःख का आधार

कौन है सुख-दुःख का कर्ता ?

तुम मनुष्य हो। तुम्हारे में ज्ञान है। तुम जानते हो—जो आता है, वह जाता है। जो जनमता है, वह मरता है। जो फूलता है, वह मुरझाता है। यह शाश्वत क्रम है। इसमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता। व्यक्ति न तो आते समय कुछ साथ लाता है और न ही जाते समय कुछ ले जाता है। मात्र अपने पूर्वकृत कर्म साथ लेकर आता है और जो कुछ अच्छी-बुरी करनी करता है, उसे साथ ले जाता है। बस, यही व्यक्ति के सुख-दुःख का आधार है। पूर्व में उसने जो सुकृत और दुष्कृत किए हैं, उनका फल वह आज भोग रहा था तथा आज जो सुकृत व दुष्कृत वह कर रहा है, उनके आधार पर आगे सुख-दुःख को प्राप्त करेगा। यह सोच एक निरी भ्रान्ति है कि परमात्मा व्यक्ति को सुखी और दुःखी बनाता है। वह तो मात्र द्रष्टा है, सबको समदृष्टि से देखता है। अपना भाग्य-विधाता, सुख-दुःख का कर्ता व्यक्ति स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं। अतः तुम यदि सुखी बनना चाहते हो तो दुःख के मार्ग को छोड़कर सुख के मार्ग पर चलो। निश्चय ही तुम सुखी बनोगे।

सभी को सुख प्रिय है

तुम धर्म और दर्शन की गहरी-गहरी बातें संभवतः नहीं भी समझ सकते, पर इतनी बात तो समझ ही सकते हो कि तुम्हारी तरह ही सभी लोगों को सुख प्रिय है। दुःख कोई भी नहीं चाहता। तुम्हारी तरह ही सब जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। तब भला औरों को दुःख देना, उन्हें मारना कहां का न्याय है। तुम सुख से रहो, यह तुम्हारा अधिकार हो सकता है, पर औरों के सुख में बाधक बनना, औरों के सुख को लूटना क्या तुम्हारी अनधिकृत चेष्टा नहीं है। जैसे अपने अधिकार छीने जाने से तुम्हें पीड़ा होती है, वैसे ही क्या दूसरों को नहीं होगी।

क्या तुम्हारी ही तरह औरों के प्राण नहीं हैं। माना बैल तुम्हारे अधीन हैं। तुम उन्हें खड़े रखकर नहीं चरा सकते। खिलाते हो तो काम भी लेते हो। पर काम लेने की कोई सीमा तो होनी चाहिए। दिन भर काम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेते ही रहो, चाहो जितना बोझ लादते रहो, यह तो उचित नहीं। फिर पीछे से लोहे की आर और। पर इतने पर भी खैर कहां। ऊपर ढाई मन के तुम खुद और बैठ जाते हो। यह तो क्रूरता है, हिंसा है। और यह हिंसा ही दुःख का हेतु है, दुःख है।

सुख का हेतु

सुख का हेतु अहिंसा है। व्यक्ति किसी को सुखी बनाने की जिम्मेवारी तो नहीं ले सकता, पर वह किसी के सुख को न लूटे, किसी को दुःखी न बनाए, यह तो उसके वश की बात है। इसी का नाम अहिंसा है। दूसरे शब्दों में सभी प्राणियों के दर्द को अपना-सा दर्द मानना अहिंसा है। लोग कहते हैं कि सांप-बिच्छू जहरीले प्राणी हैं, इसलिए उन्हें मारते हैं। मैं पूछना चाहता हूं, जहीराला कौन नहीं है? क्या आदमी कम जहरीला है? वह जितना जहरीला है, उतना शायद सांप भी नहीं। सांप कब काटता है? सामान्यतः जब वह दब जाता है, उसे भय पैदा हो जाता है, तब वह काटता है। पर आदमी तो बिना दबे ही, बिना भय उपस्थित हुए ही ऐसा काटता है, जैसा सांप भी डंक नहीं लगाता। कई बार तो उसके काटे का जहर अनेक पीढ़ियों तक भी नहीं उतरता।

मैं मानता हूं कि अहिंसा की अखण्ड/सम्पूर्ण साधना एक गृहस्थ के लिए कठिन है, असंभव है। वह हिंसा से पूर्णतया विरत नहीं हो सकता। चाहे-अनचाहे उसे हिंसा करनी ही पड़ती है। पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि वह निष्प्रयोजन हिंसा करता रहे। वह पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता तो क्या, कम-से-कम हत्यारा तो न बने, क्रूर और नृशंस तो न बने। अनावश्यक हिंसा से तो बचे, निरपराध प्राणी की हिंसा से तो परहेज करे, संकल्पजा हिंसा तो न करे।

गृहस्थ को अपना जीवन चलाने के लिए अर्थोपार्जन करना होता है। उसके लिए आदान-प्रदान एवं क्रय-विक्रय की आवश्यकता होती है। विक्रेता मुनाफा भी चाहता है। व्यापारिक-व्यावसायिक दृष्टि से इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। पर मुनाफा कमाने का यह अर्थ तो नहीं कि वह बिलकुल लोभ के वशीभूत हो जाए। नकली वस्तु को असली बता कर बेचे। बेमेल मिलावट करके बेचे। तुम बताओ, क्या घी में बेजीटेबल मिलाना, दूध में पानी मिलाकर बेचना ग्राहक के साथ धोखा नहीं है? देश की जनता के साथ अन्याय नहीं है? गद्दारी नहीं है? तुम सोचो, मिलावटी वस्तु मिलने से जैसा दुःख तुम्हें होता है, वैसा ही क्या दूसरों को नहीं होगा? इसलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानवता और धार्मिकता का तकाजा यही है कि तुम अपनी नैतिकता, प्रामाणिकता को कभी मत गंवाओ। सत्य को मत भूलो। सत्य-अहिंसा के अतिरिक्त और जीवन है ही क्या। अणुव्रत आन्दोलन यही संदेश जन-जन को सुनाता है। हजारों-हजारों लोगों ने इसके संदेश को हृदयंगम कर अपने जीवन को संवारा है। तुम इसके संदेश को आत्मसात् कर अपने जीवन में सुख-शान्ति का स्रोत बहाओ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५२. तवेसु वा उत्तम बंभचेरम्

भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम ने जिज्ञासा की—**'तवेसु किं उत्तमम् ?'**—तपस्या में उत्तम क्या है ? समाधान का आलोक बिखेरते हुए भगवान ने कहा—**'तवेसु वा उत्तम बंभचेरम् ।'** —तपस्या में ब्रह्मचर्य उत्तम है ।

हमारे यहां अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रस-परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग के रूप में तप के बारह प्रकार बताए गए हैं । स्पष्ट है, इनमें ब्रह्मचर्य का नाम नहीं है । भगवान कह रहे हैं कि ब्रह्मचर्य इन बारह प्रकार के तपों से भी उत्तम तप है । हालांकि ब्रह्मचर्य में सर्दी-गर्मी नहीं सहनी पड़ती, खाना-पीना नहीं छोड़ना पड़ता, तथापि यह सर्वोत्तम तप माना गया है । वस्तुतः यह अन्तर् की तपस्या है । इसमें अन्तरात्मा को तपाना पड़ता है ।

अब्रह्मचर्य या कामवासना व्यक्ति को अन्दर-ही-अन्दर दुःख देती है । वह ऊपर से दिखाई नहीं देती, पर उसकी नींव गहरी होती है । कामना एक ज्वाला है । उससे मनुष्य झुलसता रहता है । विलासी मनुष्य के नाना रोग हो जाते हैं । अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है । महादोषों का स्रोत है ।

मनुष्य की असीम कामवासना को ससीम करने के उद्देश्य से विवाह की परम्परा चली । पर बहुत-सारे लोग विवाह को संकीर्णता मानते हैं । वे अपने भोग पर किसी प्रकार की सीमा नहीं चाहते । उसे सर्वथा मुक्त रखना चाहते हैं । मैं मानता हूं, इन दोनों में अब्रह्मचर्य का तारतम्य हो सकता है, परन्तु ब्रह्मचर्य दोनों ही नहीं हैं ।

ब्रह्मचर्य की परिभाषा

ब्रह्मचर्य का अर्थ है—मिथुनविरति । **'मिथुनविरति ब्रह्मचर्यम् ।'** मिथुन नाम दो का है । यह सांकेतिक शब्द है । कामवासना की पूर्ति को मिथुन कहा जाता है । दूसरे शब्दों में संभोग की विरति का नाम ब्रह्मचर्य है । **'संभोगविरति ब्रह्मचर्यम् ।'** ब्रह्मचर्य की साधना इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण करने की साधना है । यह साधना महिलाओं और पुरुषों दोनों के लिए समान रूप से करणीय है । पर यह एक तथ्य है कि इस साधना में पुरुषों की तुलना में महिलाएं अधिक सफल हुई हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संभोग की क्रिया में पुरुष के वीर्य का क्षय होता है। वीर्य एक शारीरिक और मानसिक शक्ति है। मनुष्य यदि अपनी शक्ति का संरक्षण न कर सके तो वह क्या कर सकता है। शक्ति सुरक्षित हो तो हर समय उसका उपयोग हो सकता है। बांध का पानी संचित और सुरक्षित होने पर वह समय पर सिंचाई के काम आ सकता है। वीर्य की सुरक्षा का एकमात्र उपाय ब्रह्मचर्य ही है। अपने विकारों पर विजय पाकर ही व्यक्ति ब्रह्मचर्य की साधना कर सकता है। विकारों पर विजय पाने के लिए आत्मबल की जरूरत होती है। आत्मबल से हीन व्यक्ति इसकी साधना नहीं कर सकता।

जरूरी है वैचारिक दृढता और एकनिष्ठता

ब्रह्मचर्य के साधक को इस साधना में उपस्थित होने से पूर्व अपने संकल्प को पुष्ट बनाना चाहिए, अपने विचार को दृढ करना चाहिए। विचार की दृढता के पश्चात् उसमें अटूट आस्था होनी चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—**'संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा।'** ब्रह्मचर्य का पालन करते समय व्यक्ति के मन में बहुधा शंका, कांक्षा और विचिकित्सा हो जाती है। प्राप्त भोग-सामग्री को मैं क्यों छोड़ूं ? कौन जानता है, आगे कुछ है या नहीं ? जब संसार में करोड़ों व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, तब मैं ही क्यों करूं ? ब्रह्मचर्य के पालन से क्या लाभ होगा ?..... वह ऐसे प्रश्नों में बुरी तरह उलझ जाता है। इसलिए मैंने कहा कि ब्रह्मचर्य की साधना करने वाला व्यक्ति पहले अपने विचार को मजबूत करे। वह दृढ निश्चय करे कि मुझे ब्रह्मचर्य की साधना करनी है।

ब्रह्मचर्य के साधक को एकनिष्ठ होना चाहिए। बाहरी प्रलोभनों में कभी नहीं फंसना चाहिए। यह भी संभव है कि उसे इस साधना में दूसरों का समर्थन न मिले। पर इस स्थिति में भी उसे अपने निश्चय पर अटल रहना चाहिए। वह **'न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा'** इस आगम-वाणी को सदा याद रखता हुआ अकेला ही लक्ष्य की दिशा में आगे बढता रहे। जो साधक केवल परापेक्षी रहता है, दूसरों का सहयोग खोजता रहता है, वह किसी भी कार्य में सफल नहीं हो सकता।

ब्रह्मचारी के दो प्रकार

ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं—पूर्ण ब्रह्मचारी और स्वदार-संतोषी (स्वपति-संतोषी)। स्पष्ट है, इन दोनों में पूर्ण ब्रह्मचारी बनना ज्यादा कठिन है। पर इसके समानांतर यह भी एक तथ्य है कि पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य की साधना से जो लाभ प्राप्त होता है, वह स्वदार-संतोषी (स्वपति-संतोषी) से नहीं मिल सकता। पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना से मनुष्य देव बन जाता है। देव का अर्थ है--दिव्य आत्मा। जिन देवों के प्रति जन-जनमें आकर्षण होता है, वे तो स्वयं अब्रह्मचारी होते हैं। उनमें और मनुष्यों में इस विषय में कोई अन्तर नहीं होता। वे तो स्वयं ब्रह्मचारी साधक के चरण चूमते हैं।

ब्रह्मचर्य : आगमिक निदेश

आगमों में ब्रह्मचर्य की साधना के लिए दस बातों का निदेश दिया गया है। वे हैं—

(१) स्थान-संयम।
(२) वाणी-संयम।
(३) एकासन-वर्जन।
(४) दृष्टि-संयम।
(५) श्रुति-संयम।
(६) स्मृति-संयम।
(७) खाद्य-संयम।
(८) अतिमात्र भोजन-वर्जन।
(९) विभूषा-वर्जन।
(१०) मनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के प्रति राग और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष न रखना।

स्थान-संयम—ब्रह्मचारी के रहने का स्थान स्त्री-पुरुष से रहित होना चाहिए। रात में जहां स्त्री रहे, वहां पुरुष न रहे तथा जहां पुरुष रहे, वहां स्त्री न रहे। जब एकांतवासी भी यदा-कदा इस साधना में स्खलित हो जाते हैं, तब विपरीतलिंगी के संसर्ग में रहकर ब्रह्मचर्य को निभाने वाले विरल ही हो सकते हैं। आज कॉलेजों में छात्र-छात्राओं के साथ-साथ पढने से जो विकृतियां आ रही हैं, उनसे कौन अपरिचित है। इसलिए ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्री-संसर्ग एवं ब्रह्मचारिणी स्त्री को पुरुष-संसर्ग से सलक्ष्य बचना चाहिए।

वाणी-संयम—ब्रह्मचर्य की साधना के लिए वाणी-संयम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्त्री और पुरुष परस्पर काम-कथा करें और मन विकृत न हो, यह कम संभव लगता है। स्त्री और पुरुष ही क्यों, युवक साथी अथवा युवतियां परस्पर भी काम-कथा करें तो मानसिक विकृति पैदा होने की पूरी संभावना रहती है। इसलिए ब्रह्मचर्य के साधक को वाणी-संयम का सलक्ष्य अभ्यास करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकासन-वर्जन—साधक स्त्री के साथ एकासन पर न बैठे। यदि वह साधिका है तो पुरुष के साथ एकासन पर बैठने का परहेज करे। जिस प्रकार आग के पास मक्खन पिघल जाता है, उसी प्रकार विपरीतलिंगी के साथ एकासन पर बैठने से ब्रह्मचर्य को खतरा पैदा होने की प्रबल संभावना बन जाती है। हमारे शरीर से प्रतिक्षण पुद्गलों का विकीर्ण होता रहता है। ये पुद्गल हमारे मन को भी प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। विपरीत-लिंगी के शरीर से विकीर्ण होने वाले पुद्गल साधक के मन को प्रभावित कर उसके ब्रह्मचर्य के लिए खतरा न बनें, इस दृष्टि से उसके साथ एकासन पर बैठने का निषेध किया गया है।

दृष्टि-संयम—ब्रह्मचर्य का साधक अपनी दृष्टि का संयम रखे, यह नितांत अपेक्षित है। विकार की दृष्टि से वह किसी को न देखे। दृष्टि दूरबीन होती है। विकारी अपने प्रिय को दूर से देख लेता है। जो साधक दृष्टि-संयम नहीं रख पाता, उसका ब्रह्मचर्य कभी भी खंडित हो सकता है। किसी व्यक्ति ने मोतियाबिंद का ऑपरेशन करवाया। डाक्टर ने कुछ दिनों तक पढने एवं अधिक देखने का निषेध किया, जिससे कि आंख को जोर न पड़े। पर रोगी संदेहशील मानस का था। उसने डाक्टर के निदेश/परामर्श पर ध्यान नहीं दिया। उसके मन में विकल्प उठा--क्या मेरी आंख ठीक हो गई है? संदेह को मिटाने के लिए उसने ज्येष्ठ मास के मध्याह्न के सूर्य के सामने देखा। परिणाम स्पष्ट था। आंखों की रोशनी चली गई। विकार-दृष्टि साधक के लिए इसी तरह घातक है। इसलिए ब्रह्मचारी विपरीतलिंगी को विकार-दृष्टि से न देखे।

श्रुति-संयम—दृष्टि-संयम की तरह ही साधक के लिए श्रुति-संयम भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कानों से सत्कथा, उपदेश आदि सुना जाता है तो अश्लील शब्द भी। ब्रह्मचारी अश्लील शब्दों को न सुने। लोग जब सिनेमा आदि में अश्लील शब्द सुनते हैं तो उनके मन में विकार पैदा होने लगता है। इसलिए साधक के समक्ष जब-कभी अश्लील गीत या शब्द कान में पड़ने का प्रसंग उपस्थित हो जाए तो वह उससे सलक्ष्य बचने का प्रयास करे।

अश्लील साहित्य का पठन भी विकार पैदा करने में बहुत बड़ा निमित्त बन सकता है। श्रुति से भी साहित्य का असर गहरा और स्थायी होता है। आज के युवक-युवतियों में अश्लील साहित्य को पढने की प्रवृत्ति बहुत बढ रही है। इसके माध्यम से वे अपनी कामवासना को शांत करने का प्रयास करते हैं। पर वे यह नहीं समझते कि यह तो आग में घी सींचने के समान है। घी सींचने से आग बुझने की अपेक्षा अधिक तेज होती है। अश्लील साहित्य पढने से भी कामवासना शांत होने के स्थान पर और अधिक प्रबल हो जाती है। सार-संक्षेप यह कि अश्लील साहित्य का पढना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य के लिए अत्यन्त घातक है। साधक को तो इससे सलक्ष्य बचना ही चाहिए, जन-सामान्य के लिए भी इसका परहेज आवश्यक है।

स्मृति-संयम—ब्रह्मचर्य की साधना के लिए यह नितांत आवश्यक है कि साधक पूर्वकाल में सेवन किए गए काम-भोग का स्मरण न करे। कभी-कभी तो साक्षात् सम्बन्ध से भी स्मृति अधिक हानिकारक हो जाती है।

चार मित्र अर्थोपार्जन के लिए किसी दूरस्थ नगर में जा रहे थे। विश्राम के लिए वे एक मार्गवर्ती ग्राम में एक बुढिया ब्राह्मणी के घर में ठहरे। बुढिया ने सत्कारपूर्वक उन्हें भोजन करवाया। प्रकृति से वह बहुत भद्र थी। उसे उन यात्रियों से स्नेह हो गया। उसके मन में चिंतन आया—ये सुबह उठकर लंबी यात्रा के लिए प्रस्थान करेंगे। ऐसी स्थिति में मेरे घर से भूखे पेट जाएं, यह मेरे लिए अच्छा नहीं है। भोजन तो इतना जल्दी बन नहीं सकता, पर कम-से-कम छाछ तो पिला दूं। इस चिंतन के आधार पर उसने सुबह जल्दी उठकर बिलोना किया और छाछ बनाई। बड़ी आत्मीयता से चारों यात्रियों को छाछ पिलाकर विदा किया। उनके जाने के पश्चात् सूर्योदय होने पर उसने देखा—अंधेरे के कारण छाछ के साथ एक सांप का भी मंथन हो गया है। उसके मन में बड़ी चिंता हुई—मैंने जो छाछ पिलाई, वह विषमिश्रित थी। मेरी थोड़ी-सी असावधानी के कारण वे बेचारे मौत के मुंह में पहुंच गए होंगे। हा! बहुत बड़ा अनर्थ हो गया'''' इस चिंता और अनुताप में उसने दो-तीन दिन तक पूरा भोजन भी नहीं किया।

इधर यात्री छाछ के विषमिश्रित होने की बात से सर्वथा अनभिज्ञ थे। उन पर उसका कोई असर नहीं हुआ। वे सकुशल अपने गंतव्य पर पहुंच गए। दो वर्ष पश्चात् वापस घर आते समय मार्ग में विश्राम के लिए उसी गांव में उसी बुढिया ब्राह्मणी के घर पर पहुंचे। बुढिया ने उनका हार्दिक स्वागत किया। पर वह उन्हें पहचान नहीं सकी। यात्रियों ने भोजन करवाने एवं छाछ पिलाने की बात कही तो उसे स्मरण हो आया और तब उन्हें पहचानने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। वह अत्यन्त प्रसन्न होती हुई बोली—'बहुत अच्छा हुआ, तुम सकुशल वापस आ गए।' यात्रियों ने उसके कथन के रहस्य को जानना चाहा। वह उनके अत्यधिक आग्रह के समक्ष बात को छुपा कर नहीं रख सकी। सारा यथार्थ प्रकट कर दिया। चारों यात्रियों ने सुना और विस्मय में डूबते हुए बोले—'अच्छा, उस छाछ में जहर था!' और इतना कहने के साथ-साथ ही जहर शरीर पर प्रभावी हो गया। वे तत्काल वहीं ढेर हो गए।

आप देखें, विषमिश्रित छाछ पीने से जिनकी मौत नहीं हुई, वे ही उसकी स्मृति-मात्र से काल-कवलित हो गए। इस घटना के परिप्रेक्ष्य में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम ब्रह्मचारी के लिए भुक्त भोगों के स्मरण के निषेध का मूल्यांकन कर सकते हैं।

गरिष्ठ भोजन का वर्जन—ब्रह्मचारी साधक भोजन का पूर्ण विवेक रखे। भोजन का ब्रह्मचर्य की साधना के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। इसलिए शास्त्रों में खाद्य-संयम पर अत्यधिक बल दिया गया है। दशवैकालिक सूत्र में गरिष्ठ भोजन को तालपुट विष की तरह घातक बताया गया है—

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयरसभोयणं।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा॥

एक संस्कृत कवि ने कहा है—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैवमोहं गताः।
आहारं सघृतं पयोधियुतं ये भुंजते मानवाः,
तेषामिन्द्रियनिग्रहः कथमहो दंभं समालोक्यताम्॥

—वायु और पत्तों का आहार करनेवाले विश्वामित्र, पराशर जैसे उग्र तपस्वी भी स्त्रीमुख के सौंदर्य पर मोहग्रस्त/मुग्ध हो गए, तब घी, दूध, दही से युक्त भोजन करनेवाले मनुष्य इन्द्रिय-निग्रह की बात करें, यह कैसा दंभ है!

वैसे यह एक सामान्य बात है। अपवाद की बात हम छोड़ें। वह कहीं भी संभावित है। इसलिए अपवादस्वरूप कहीं-कहीं रूक्ष भोजन भी साधना के लिए विष हो सकता है, विकार-वासना का कारण बन सकता है। आप देखें, कबूतर कंकर खाता है, रूक्षभोजी है, तथापि उसमें वासना प्रबल होती है। इसके विपरीत हाथी और सूअर जैसे पशुओं के मांस का भक्षण करने वाले सिंह के लिए वर्ष में मात्र एक बार भोग करने की बात कही जाती है—

सिंहो बली द्विरदसूकरमांसभोजी,
संवत्सरेण रतिमेति किलैकवारम्।
पारापतः खरशिलाकणभोजनोऽपि,
कामी भवत्यनुदिनं वद! कोत्र हेतुः॥

इसलिए आप इस बात को समझें कि सर्वत्र एक ही सिद्धांत लागू नहीं होता। एक सामान्य नियम होता है। लेकिन उसमें कहीं-कहीं अपवाद भी हो सकता है। आप देखें, उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

दुद्धदहीविगइओ, आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणि त्ति वुच्चइ॥

—जो साधक दूध, दही, घी आदि विगय का बार-बार उपभोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है, तपस्या में रमण नहीं करता, वह पापी श्रमण है।

पर मैं पूछना चाहता हूं, जो साधक मास-मास की तपस्या का पारण करता है, उसके दूध, दही आदि क्या नुकसान करेंगे। इसलिए एकांत रूप में प्रणीतरस भोजन को विष कैसे कहा जा सकता है। यह ठीक है कि सामान्यतः साधक को गरिष्ठ भोजन से बचना चाहिए, क्योंकि इसका मनोवृत्तियों पर बुरा असर पड़ता है।

गरिष्ठ भोजन की तरह ही साधक के लिए तामसिक भोजन का भी निषेध है। अधिक खट्टा, चटपटा और तीक्ष्ण भोजन साधना में बाधक है। साधक के सामने यह बात बहुत स्पष्ट रहनी चाहिए कि उसके भोजन करने का उद्देश्य स्वाद लेना नहीं है। वह तो मात्र शरीर-निर्वाह के लिए भोजन करता है, जिससे कि वह साधना में सहयोगी बना रहे। शास्त्रों में साधक के भोजन को 'व्रण विभेषण' की उपमा से उपमित किया गया है। व्रण पर औषध का लेप किया जाता है। उसका उद्देश्य पीड़ा को मिटाना होता है, और कुछ भी नहीं। इसी प्रकार साधक के भोजन करने का उद्देश्य क्षुधा की पीड़ा मिटाना होना चाहिए, स्वाद-लोलुपता नहीं।

अतिमात्र भोजन-वर्जन—इसी क्रम में साधक को अतिमात्र भोजन से भी बचना चाहिए। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हम जानते हैं कि भूख लगना शरीर का धर्म है। उसे मिटाने के लिए आहार आवश्यक है। पर अति आहार उचित नहीं है। आयुर्वेद के आचार्य कहते हैं कि व्यक्ति को पेट का आधा भाग भोजन करना चाहिए। शेष आधा भाग पानी और वायु के लिए खाली छोड़ना चाहिए। इससे यह बात बहुत स्पष्ट है कि अतिभोजन न केवल ब्रह्मचर्य की साधना की दृष्टि से ही वर्जनीय है, अपितु शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उससे बचना अत्यन्त आवश्यक है।

आचार्य भिक्षु ने भी अति भोजन पर गहरा प्रहार किया है। अति-भोजन करने वाले व्यक्ति की कैसी स्थिति बनती है, इसका उन्होंने बहुत ही सुंदर चित्रण किया है। अफरा, डकार, अधोवायु की दूषितता, बदहजमी, मंदाग्नि, वमन, आंतों की सूजन आदि शारीरिक स्तर पर होने वाले उसके दुष्परिणाम हैं। स्वाध्याय, ध्यान आदि में मन न लगना, ब्रह्मचर्य में शंका पैदा हो जाना आदि उसके आध्यात्मिक स्तर पर दुष्परिणाम हैं। व्यक्ति स्वाद-लोलुपतावश अति आहार कर लेता है, पर उसका परिणाम कभी भी अच्छा नहीं आता। अन्न के अभाव में कोई मर जाए, यह विवशता की स्थिति है। पर अधिक खाकर मरे, यह मूर्खता है, प्रथम कोटि की मूर्खता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूछा जा सकता है, अति आहार की परिभाषा क्या है ? शास्त्रों में पुरुष के भोजन का परिमाण बत्तीस ग्रास माना गया है। बत्तीस ग्रास से अधिक खाना उसके लिए अति आहार की कोटि में आता है। इसी प्रकार महिला के आहार का परिमाण अट्ठाइस ग्रास है। इससे अधिक आहार ग्रहण करना उसके लिए अति आहार है।

हवा प्राणियों के लिए एक आवश्यक तत्व है। उसके बिना प्राणी जी भी नहीं सकता। लेकिन उसका अतिभाव तो भारभूत ही है। यही बात आहार की भी है। उसके अभाव में प्राणी एक अवधि के पश्चात् जीवित भी नहीं रह सकता। पर अति आहार शरीर एवं साधना दोनों दृष्टियों से ही घातक है। इसीलिए ब्रह्मचर्य की साधना के लिए इसका वर्जन किया गया है।

विभूषा-वर्जन -- ब्रह्मचारी साधक के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह न तो स्वयं शृंगार करे और न ही शृंगार की हुई स्त्री को निहारे। यह एक प्रकट सचाई है कि शृंगार विलास का साधन है। आज का जन-मानस शृंगारप्रिय है। उसे अपने प्राकृतिक सहज सौन्दर्य से सन्तुष्टि नहीं है। इसलिए कृत्रिम शृंगार/प्रसाधन-सामग्री से अपने सौन्दर्य को बढ़ाना चाहता है। आए दिन शृंगार से सम्बन्धित प्रतियोगिताएं आयोजित होती रहती हैं।

स्त्रियों में सहज सौन्दर्य होता है। फिर भी जाने क्यों उनका आकर्षण कृत्रिम प्रसाधनों के प्रति अधिक रहता है। मैं मानता हूं, अपने-आपको ज्यादा सुंदर प्रदर्शित करने की उनकी मनोवृत्ति उनके स्वयं के लिए अनेक बार खतरा बन जाती है। यदि वे कृत्रिम सौन्दर्य से मुंह मोड़ अपने आत्मबल को जगा लें, आत्म-सौन्दर्य को निखार लें तो उन्हें परापेक्षी होने की आवश्यकता ही नहीं होगी। वे स्वयं ही अपने शील/सतीत्व की सुरक्षा करने में पूर्ण सक्षम हो जाएंगी। इतिहास में अनेक ऐसी सतियों के नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं, जिन्होंने हंसते-हंसते अपने प्राणों का बलिदान कर दिया, पर शील पर तनिक भी आंच नहीं आने दी, सतीत्वको खंडित नहीं होने दिया। ऐसी नारियों को क्या आप अबला कहेंगे ? मेरी दृष्टि में वे अबला तो हैं ही नहीं, किसी भी सबल-से-सबल पुरुष की तुलना में कम नहीं हैं। इसलिए महिलाओं से मैं विशेष बलपूर्वक कहना चाहता हूं कि वे शृंगार/विभूषा के द्वारा स्वयं को सुंदर प्रदर्शित करने की मनोवृत्ति का परित्याग कर अपने आन्तरिक सौंदर्य को पहचानें और उसे निखारें। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए तो यह उपयोगी ही नहीं, अत्यंत आवश्यक भी है।

ये नव बातें 'शील की नव बाड़' के रूप में प्रसिद्ध हैं। खेती की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुरक्षा की दृष्टि से जिस प्रकार कंटीली बाड़ का उपयोग और महत्त्व है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की सुरक्षा की दृष्टि से इन बाड़ों का उपयोग और महत्त्व असंदिग्ध है। इन बातों के प्रति सजग रहनेवाला साधक ब्रह्मचर्य की साधना की दृष्टि से अत्यंत सुरक्षित हो जाता है। पर यह सुरक्षा की बात यहीं समाप्त नहीं होती है। इसे और सुदृढ़ बनाने के लिए एक परकोटे के रूप में दसवीं बात और कही गई है। ब्रह्मचारी साधक मनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के प्रति राग भाव न लाए। इसी प्रकार अमनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के प्रति द्वेष भाव न लाए। इस राग-द्वेष से बचना उसकी साधना को सहज बनाने में अत्यंत योगभूत बनता है।

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपानत'—ब्रह्मचर्य के बल से देवों ने मौत को जीता। वस्तुतः आत्मशक्ति का विकास होने पर अजरामर पद—मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसके बाद मौत का मुंह कभी नहीं देखना पड़ता। पर मुझे यह कहने में कोई कठिनाई नहीं कि आज ब्रह्मचर्य की अलौकिक शक्ति का जन-जीवन में अत्यंत ह्रास हुआ है।

अब्रह्मचर्य के दुष्परिणाम

पन्द्रह-सोलह वर्ष की उम्र के पश्चात् काफी लड़के-लड़कियां ब्रह्मचारी नहीं रहना चाहते। कई-कई तो इससे पहले ही गलत रास्ते चले जाते हैं। आप देखें, कहां तो पचीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहने की बात और कहां यह स्थिति। मैं मानता हूं, अब्रह्मचर्य के इस बढ़ते प्रभाव का मुख्य कारण वातावरण की अस्वस्थता है। आज का वातावरण ब्रह्मचर्य की दृष्टि से इतना प्रतिकूल और दूषित हो गया है कि सामान्य व्यक्ति का उससे अप्रभावित रहना कठिन है। इसके दुष्परिणाम हमारे सामने बहुत स्पष्ट हैं। जहां चार आश्रम यानी सौ वर्ष तक जीने की कल्पना की गई थी, वहां व्यक्ति दूसरे-तीसरे आश्रम तक आते-आते समाप्त हो जाता है। संजीवनी शक्ति नष्ट होने के पश्चात् वह जीए भी तो कैसे।

इसका दूसरा दुष्परिणाम क्रमशः क्षीण होती हुई स्मरण-शक्ति के रूप में सामने आया है। कभी आगम, वेद और पिटक की विशाल ज्ञान-राशि भी कंठस्थ के आधार पर सैकड़ों वर्षों तक सुरक्षित रही। पर अब तो स्थिति यह बनी है कि आज सुना प्रवचन दो दिन बाद भी याद रहना कठिन है।

आप इस बात को निश्चित रूप से समझें कि यदि मनुष्य को सुख-पूर्वक जीना है तो उसे ब्रह्मचर्य की शक्ति को सुरक्षित रखना होगा। यद्यपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं मानता हूं, ब्रह्मचर्य अपने-आपमें एक कठिन तप है। एक गीत में मैंने कहा है—

ब्रह्मचर्य को काम करारो,
समझ-विवेक-पूर्व स्वीकारो,
स्वीकारो तो पार उतारो ॥
० अपनी वृत्त्यां साथे लड़णो,
बाथे मत्त मतंग पकड़णो।
चढणो खड़ग-धार परबारो ॥ ब्रह्मचर्य ॥
० दस परकोटां री पत लांघी,
कुण-कुण भ्रष्ट हुया व्रत भांगी।
अरणक, नन्दी, आर्द्रकुमारो ॥ ब्रह्मचर्य ॥
० बड़ा-बड़ा व्रतधारी जोगी,
कामी कुटिल भयंकर भोगी।
'नहिं अपुत्र गति' मिलग्यो स्हारो ॥ ब्रह्मचर्य ॥

ब्रह्मचर्य की साधना में साधक को अपनी वृत्तियों के साथ युद्ध करना पड़ता है। यह साधना मदोन्मत्त हाथी को अपनी भुजाओं में भरने के समान है, नंगी तलवार पर चलने के तुल्य है। इस साधना में वे ही साधक सफल हो पाते हैं, जो स्थान-संयम, वाणी-संयम आदि दस बातों का बराबर ध्यान रखें। जो इनके प्रति उपेक्षा बरतते है, इनका अतिक्रमण करते हैं, वे किसी भी क्षण अपनी साधना से च्युत हो सकते हैं। अरणककुमार, नन्दीसेन, आर्द्रकुमार जैसे अनेक नाम इस कथन की पुष्टि में बताए जा सकते हैं। वस्तुतः साधक का मन जब कमजोर हो जाता है, तब फिर उसका ब्रह्मचर्य की साधना में उपस्थित रहना कठिन हो जाता है। भले ही वह कितना ही उग्र तपस्वी क्यों न हो। बहुधा तो ऐसी स्थिति में वह कोई बहाना बनाकर अपनी ब्रह्मचर्य की साधना को खण्डित कर देता है। कहा जाता है कि अट्ठासी हजार तापस गृहवासी हो गए। उन्होंने कई वर्षों तक जंगल में खड़े-खड़े तपस्या की। इस अवधि में बेलें उनके शरीर पर छा गईं। पक्षियों ने वृक्ष समझकर घोंसले बना लिए। ऐसे तपस्वियों ने किसी से सुन लिया— **'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैवच्च नैवच्च।'** बस, तत्काल तपस्वी जीवन छोड़कर गृहवासी बन गए। मैं समझता हूं, 'अपुत्र की गति नहीं होती' यह तो मात्र एक बहाना था। मूलतः तो साधना से उनका विश्वास डोल चुका था। उनके मन में शिथिलता आ गई थी। ऐसी स्थिति में **'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, ...'** की बात का निमित्त मिल गया और अपनी कमजोरी पर आवरण डालते हुए वे गृहस्थ बन गए। बन्धुओ! आप ही बताएं, **'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति,**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'.....' की बात में कितनी आध्यात्मिकता है ? एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी है और दूसरा चार-पांच पुत्र-पुत्रियों को जन्म देकर ब्रह्मचारी बनता है। इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है ? स्पष्ट है, दोनों में नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही श्रेष्ठ है। रूपक की भाषा में नैष्ठिक ब्रह्मचारी एक सहज साफ-सुथरा कपड़ा है, जबकि बाद में ब्रह्मचारी बननेवाला कीचड़ से लिपटा और साबुन से साफ है। ऐसी स्थिति में दोनों को एक जैसा नहीं माना जा सकता।

अपेक्षा है, ब्रह्मचर्य की साधना का मूल्य/लाभ व्यापक रूप में लोग समझें और यथाशक्ति हर व्यक्ति उसकी साधना में उपस्थित हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५३. कौन होता है गरीब ?

अपरिग्रह बनाम गरीबी

मैं बहुधा लोगों के मुंह से इस आशय की बात सुनता हूं कि अपरिग्रह का सिद्धांत देश को गरीब बनाता है। मुझे यह बात तथ्यपरक प्रतीत नहीं होती। अपरिग्रह का अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति गरीब बन जाए। उसका सही अर्थ है—धन के प्रति अमूर्च्छा, अर्थ-संग्रह के प्रति अनाकर्षण। वस्तुतः धन का न होना गरीबी नहीं है, अपितु धन के प्रति मूर्च्छा, धन-संग्रह के प्रति आकर्षण का भाव गरीबी है। इसलिए धन के अभाव में व्यक्ति गरीब नहीं होता, अपितु गरीब वह है, जो धन के लिए हाय-हाय करे। सबसे बड़ा गरीब वह है, जो करोड़ों-अरबों का धन होने के उपरांत भी पैसे-पैसे के लिए बेतहाशा दौड़ता रहे, जीवन की शांति दांव पर लगा दे।

अमावस्या की अंधेरी रात। मेघमालाओं के घने आवरण से आवृत आकाश। मूसलाधार वर्षा। आकाश-पाताल को एक कर देने वाली भयंकर गर्जन। सीने को भेदकर निकल जाने वाली वह ठंडी हवा। कड़कड़ाहट के साथ आकाश में बिजली कौंधी और क्षण भर के लिए चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश छितर गया। महारानी चेलना उस समय अपने महल में झरोखे के सामने ही बैठी थी। उस प्रकाश में उसने देखा—इस भयंकर मौसम में एक व्यक्ति सामने नदी की धारा में बहती लकड़ियों को इकट्ठा करने में जुटा है। देखकर रानी के मन में संवेदना उभरी—ओह! कितना गरीब और दुःखी व्यक्ति है। अन्यथा इस भयावह मौसम में नदी में उतरना तो बहुत दूर, ऐसा करने की सोच भी नहीं सकता।

वह उन्हीं पैरों महाराज श्रेणिक के कक्ष में गई और सारी स्थिति से अवगत कराया। राजा ने रानी का प्रतिवाद करते हुए कहा—'क्या तुम अभी नींद से उठ कर आई हो? सपने की बात कर रही हो? मेरे राज्य में ऐसा गरीब व्यक्ति हो नहीं सकता, जिसे इतना कठिन श्रम करना पड़े।'

रानी ने कहा—'सपने में नहीं, मैंने खुली आंखों से अभी-अभी देखा है।'

राजा के लिए अब अविश्वास का कोई कारण नहीं था। उसने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रानी को आश्वस्त करते हुए कहा—'ठीक है, मैं सारी स्थिति का पता लगवाता हूं।'

रानी अपने कक्ष में लौट गई। राजा का मन कड़वाहट से भर गया —मेरा यह विपुल ऐश्वर्य व्यर्थ है। मैं महलों में बैठकर आनन्द करूं और मेरी प्रजा इस तरह दुःख भोगे। धिक्कार है मेरे इस विलास को!

राजा ने आदेश देकर उस व्यक्ति को अपने पास बुलवाया। फटे हाल वह राजा के सम्मुख उपस्थित हुआ। राजा ने पूछा—'भाई! रात्रि के समय इस भयंकर मौसम में तुम इतना कठिन श्रम क्यों कर रहे हो? आखिर तुम्हारी ऐसी क्या मजबूरी है?'

उसने उत्तर दिया—'महाराज! मैं एक अत्यन्त दुःखी प्राणी हूं। मुझे बैलों की एक जोड़ी चाहिए। पर कठोर श्रम करने के बावजूद भी अब तक मेरे पास एक बैल ही है। जोड़ी नहीं। जोड़ी बनाने के लिए ही मैं दिन-रात श्रम करता हूं।'

'बस, इतनी-सी बात है। मैं अभी तुम्हारे दुःख को दूर कर देता हूं, समस्या को हल कर देता हूं।' —राजा ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा।

उसी समय राजा ने मंत्री को बुलाया और निदेश दिया कि इसे इसकी मन-पसन्द का एक बैल दिला दो।

प्रातः वह उपस्थित हुआ। राजा के निदेशानुसार मंत्री ने उसे एक बैल दिलाया। पर उसे वह पसन्द नहीं आया। दूसरा दिखाया। पर उसे भी उसने नापसन्द कर दिया। तीसरा, चौथा, पांचवां.....सब नापसन्द कर दिए। तब मंत्री ने कहा—'तुम स्वयं ही वृषभशाला से अपनी मनपसन्द का बैल चुन लो।'

राजकीय वृषभशाला में बैलों की क्या कमी थी। एक-से-एक अच्छे बैल थे। पर कैसा आश्चर्य! उसे कोई भी बैल पसन्द नहीं आया।

बात पुनः राजा के पास पहुंची। राजा ने उस व्यक्ति को बुलाकर कहा—'ऐसा करो कि तुम अपना बैल यहां ले आओ और उससे मिलाकर जोड़ी का बैल ले जाओ।'

'ना-ना, मेरा बैल यहां नहीं आ सकता।'—वह एकदम बोला।

राजा ने मन-ही-मन कहा—लगता है, इस बात में कोई गहरा राज है। मुझे इस राज को जानना चाहिए। अतः उससे कहा—'तुम्हारा बैल यहां नहीं आ सकता तो हमारे आदमियों को घर ले जाकर दिखा दो। फिर तुम्हारी व्यवस्था हो जाएगी।'

'नहीं-नहीं, आपके आदमियों को मैं अपना बैल नहीं दिखा सकता।' —ऐसा कहकर उसने रहस्य को और अधिक गहरा दिया।

राजा ने सोत्सुक पूछा—'फिर कौन देख सकता है?'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह अत्यन्त विनम्रतापूर्वक बोला—'महाराज ! आप पधारें।'

राजा किसी के घर बैल देखने क्यों जाए। पर राजा ने चूंकि प्रथम तो उसे दुःख दूर करने का आश्वासन दे दिया था, फिर मन भी कौतूहल से भरा था, इसलिए उसके घर जाना स्वीकार कर लिया।

राजा उसके घर पहुंचा। उसने अपना अहोभाग्य मानते हुए स्वागत किया। राजा ने पूछा—'बैल कहां है ?'

वह बोला—'प्रभो ! मकान के अन्दर।'

राजा का कौतूहल और अधिक गहरा गया। उसने उसी भावधारा में कहा—'क्या बैल भी कहीं कोई मकान के अन्दर रहता है !'

वह बोला—'महाराज ! मेरा बैल तो अन्दर ही रहता है। कभी बाहर निकलता ही नहीं।'

राजा भवन के भीतरी भाग में पहुंचा। भवन काफी बड़ा था। वह व्यक्ति राजा का पथ-दर्शन करता हुआ आगे-आगे चल रहा था। चलते-चलते जब वह सोपान-मार्ग के पास पहुंचा तो राजा ने पुनः प्रश्न किया—'बैल कहां है ?'

सोपान पर चढता हुआ वह बोला—'ऊपर।'

बैल के ऊपर होने की बात सुन राजा का विस्मय व कौतूहल गहरा से और गहरा हो गया।

सोपान-मार्ग पार कर राजा ऊपरी मंजिल पर पहुंचा। सोपान के ठीक सामने एक कक्ष था। उसके द्वार पर परदा था। कक्ष के पास पहुंचकर जैसे ही उस व्यक्ति ने वह परदा हटाया, राजा विस्फारितनयन रह गया। पूरा कक्ष रत्नों की ज्योति से जगमगा रहा था। ऐसा दृश्य तो उसके अपने महलों में भी नहीं था। उसके लिए यह एक पहेली थी। उसने उसी भावमुद्रा में पूछा—'अरे ! क्या बैल यहां रहता है ?'

वह बोला—'हां, महाराज ! मेरा बैल यहीं रहता है। आप अन्दर पधारें।'

राजा ने कक्ष में प्रवेश किया और उसके पैर सहसा ठिठक-से गए। वह टकटकी लगाकर देखता ही रह गया। कक्ष के एक कोने में एक बैल खड़ा था। कैसा बैल ? बहुमूल्य हीरों, पन्नों, मोती, माणिक, नीलम, पुखराज .....से जड़ा हुआ बैल। अद्भुत रश्मियां उससे विकीर्ण हो रही थीं। राजा के विस्मय का कोई पार नहीं रहा। इतना धन तो उसके विशाल खजाने में भी नहीं था। उस व्यक्ति की स्थिति पर उसे तरस आई—इतना धन और ऐसी दशा ! प्रकट में उससे बोला—'तुम्हारे पास इतना धन है, फिर कैसी समस्या ? कैसा दुःख ?.....'

वह बोला—'समस्या और दुःख यही कि अभी तक मैं यह एक बैल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही बना पाया हूं। इसकी जोड़ी नहीं बना पाया। जब तक जोड़ी नहीं बनेगी, मुझे चैन नहीं पड़ेगा। इसीलिए मैं रात-दिन श्रम करता हूं।'

राजा ने मन-ही-मन कहा—आकाश को बाहों में भरा जा सके तो इसकी इच्छा पूरी हो। और वह जीवन का एक नया अनुभव प्राप्त कर अपने महलों की ओर प्रस्थित हो गया।

बन्धुओ! अब आप सोचें, गरीब कौन है? परिग्रही या अपरिग्रही? ज्ञानी पुरुष तो यही कहते हैं कि गरीब वह नहीं, जिसे भरपेट रोटी न मिले, बल्कि सही अर्थ में गरीब तो वह है, जिसे करोड़ों की पूंजी होने के उपरांत भी सुख से रोटी खाने की फुरसत नहीं है।

आंखों देखी बात भी बताऊं। करोड़पति सेठ थे। आधुनिक सुख-सुविधाओं के सभी साधनों से सम्पन्न थे। पर इसके उपरांत भी उन्हें रात को सुख से नींद नहीं, दिन में सुख से खाना नहीं, एक मिनट चैन नहीं। एक दिन क्या देखता हूं—वे भोजन कर रहे हैं। तभी टेलीफोन की घंटी बजती है। बस, उनके मुंह का कवल मुंह में और हाथ का हाथ में। खाना छोड़कर उनको टेलीफोन सुनने के लिए जाना पड़ता है। यह दृश्य देखकर मेरे मन में विचार आया—हाय! यह क्या जीवन है। बन्धुओ! ऐसी दयनीय जिन्दगी जीने वालों के प्रति मन में करुणा आती है। बेचारे सुख से खा-पी नहीं सकते। आराम तो उनकी नसीब में है ही कहां। रात को जब वे सोते हैं तो फोन उनके कान के पास ही रहता है। मानो अपराधी के पीछे कोई सन्तरी लगा हो। न जाने रात में कितनी बार उन्हें चौंक-चौंक कर उठना पड़ता है।

इस परिप्रेक्ष्य में गरीब और अमीर की परिभाषा को बहुत अच्छी तरह से समझा जा सकता है। अगर पैसा पास न होना ही गरीबी है तो क्या सबसे बड़े गरीब हम नहीं होंगे। भले आप सब लखपति-करोड़पति नहीं हैं, फिर भी आपके पास कुछ-न-कुछ तो है ही। पर हमारे पास तो कुछ भी नहीं है। बिलकुल कुछ नहीं। चार अंगुल जमीन नहीं, चार पैसे की पूंजी तक नहीं। और तो क्या, आज खाया है, पर कल मिलेगा या नहीं, इसकी भी कोई निश्चितता नहीं। और मिलेगा तो क्या मिलेगा, कहां मिलेगा, कब मिलेगा, इसका कोई पता नहीं। इस स्थिति के उपरांत भी कल के लिए कोई संग्रह नहीं। मिलेगा तो ठीक, अन्यथा सहज तपस्या हो जाएगी। पर इस आकिंचन्य के बावजूद भी हम गरीब नहीं हैं, बिलकुल गरीब नहीं हैं, अपितु संपन्न हैं। आप पूछेंगे, आपके पास फिर कौन-सा धन है? हमारे पास धन है अपरिग्रह का, संतोष का। और इस संपन्नता के समक्ष संसार का बड़े-से-बड़ा पूंजीपति अपने को बौना पाता है। इसलिए मैंने कहा, अकिंचन होने के उपरांत भी हम गरीब नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिग्रही अकर्मण्य होता है ?

लोग कहते हैं—अपरिग्रही अकर्मण्य बन जाता है, निष्क्रिय बन जाता है। पर वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है। अकर्मण्यता/निष्क्रियता/निठल्लापन तो वहां पनपता है, जहां अर्थ-संग्रह है, परिग्रह है। जहां अपरिग्रह है, अर्थ का असंग्रह है, वहां तो श्रम की प्रतिष्ठा होगी। अपरिग्रही व्यक्ति स्वावलंबन का जीवन जीएगा। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वह पुरुषार्थ के सहारे करेगा। परावलम्बन को वहां कोई स्थान नहीं मिलेगा।

अपरिग्रह : भारतीय संस्कृति का आधार

अपरिग्रह सदा से भारतीय संस्कृति का आधार रहा है, आज भी है। भारतीय तत्वविज्ञों ने कहा—जीवन में जितना ज्यादा परिग्रह-संग्रह है, उतना ही ज्यादा विग्रह है। जितनी ज्यादा उपाधियां हैं, उतनी ही ज्यादा व्याधियां हैं। पर पश्चिमी चिंतन इससे सर्वथा भिन्न/विपरीत रहा। उसने आवश्यकताओं को बढाने एवं उनकी पूर्ति की बात कही। मैं मानता हूं, आज की अनैतिकता/भ्रष्टाचार उसका ही दुष्परिणाम है। मनुष्य की आवश्यकताएं बढीं, पर वे पूरी नहीं हुईं। तब मनुष्य ने धर्म खोया, धैर्य खोया, ईमान खोया। सब कुछ खोकर वह बेचैन बन बैठा। मैं मानता हूं, यदि मनुष्य इस स्थिति से उबरना चाहता है तो उसे अपनी भूल को सुधारना होगा। आवश्यकताओं को बढाने की मनोवृत्ति को बदलना होगा। आवश्यकताएं बढेंगी ही नहीं तो उनकी पूर्ति की बात ही बेमानी हो जाएगी। रोग ही नहीं होगा तो दवा किसलिए चाहिए, उपचार क्यों चाहिए। अगर समस्या ही नहीं तो समाधान क्यों चाहिए। अणुव्रत आंदोलन का दृष्टिकोण यही है। वह कहता है—आवश्यकताओं को घटाओ, परिग्रह का अल्पीकरण करो। मैं समझता हूं, अणुव्रत की इस भावना का व्यापक प्रचार-प्रसार हो तो अनैतिकता, भ्रष्टाचार, अप्रामाणिकता जैसी ढेर-सारी समस्याएं स्वयं अस्त होने लगेंगी। मनुष्य के सुख और शांति से जीने का मार्ग स्वतः निर्बाध हो जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५४. ब्रह्मचर्य

'ब्रह्मणि चरणं इति ब्रह्मचर्यम्।' ब्रह्मचर्य का व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है—ब्रह्म का आचरण। ब्रह्म का अर्थ है आत्मा और चरण का अर्थ है गति। ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ—आत्मा की ओर गति। दूसरे शब्दों में सांसारिक बातों से मुंह मोड़कर अन्तर्मुखी बनना। ब्रह्मचारी वही है, जिसकी दृष्टि अन्तर्मुखी है। संयम और विरक्ति के अभाव में मनुष्य का मन भोगों की ओर दौड़ रहा है। उस पर नियंत्रण करके उसे अन्तर्मुखी बनाना ही ब्रह्मचर्य है। अनुकूल सामग्री के संयोग के अभाव में भोग-विलास न करना ब्रह्मचर्य नहीं, बल्कि संयोग में संयम रखना ब्रह्मचर्य है।

आंखों से बाह्य पदार्थ देखे जाते हैं, पर आभ्यन्तर वृत्तियां नहीं। उन्हें देखने के लिये आंखों को मूंदकर आत्मा को साधन बनाना होगा। बाह्य पदार्थों में आकर्षण रहने से दृष्टि अन्तर्मुखी नहीं बन सकती। अन्तर्दर्शक को संगीत, नृत्य, विलास आदि विडम्बना जैसे लगते हैं। उसका बाह्य पदार्थों में आकर्षण नहीं रहता। ब्रह्मचारी की दृष्टि अन्तर्मुखी होती है।

ब्रह्मचर्य की व्यापक व्यवस्था है—पांच इन्द्रिय और मन पर संयम रखना। व्यावहारिक व्यवस्था है—**'मैथुनं अब्रह्म, मिथुनस्य युग्मस्य कर्म मैथुनम्।'** दो से होने वाला कर्म मैथुन कहलाता है। पर रूढ अर्थ में यह अब्रह्मचर्य का परिचायक है। यह पाप प्रायः दो व्यक्तियों से होता है, स्त्री-पुरुष या पुरुष-पुरुष। कदाचित् व्यक्ति अकेला ही स्वप्न में दूसरे की कल्पना करके स्वयं भ्रष्ट हो जाता है। मानसिक वृत्ति से दूसरे के साथ सम्बन्ध बना करके अब्रह्मचर्य का सेवन कर लेता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है—ब्रह्मचर्य की साधना से सर्व व्रतों की आराधना हो जाती है—

जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं।

इसीप्रकार ब्रह्मचर्य की साधना से शील, तप, विनय, संयम, क्षान्ति, गुप्ति और मुक्ति की भी आराधना हो जाती है—

सीलं तवो य विणओ य, संजमो य खंती गुत्ती मुत्ती।

ब्रह्मचर्य का भंग होने से सब भंग हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य सोमप्रभ अपने ग्रन्थ 'सिंदूरप्रकर' में कहते हैं—

वक्त्रस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चक-
श्चारित्रस्य जलांजलिर्गुणगणारामस्य दावानलः।
संकेतः सकलापदां शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः,
शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्यचिंतामणिः॥

नीति-शास्त्र में भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व वर्णित है। महर्षियों ने शील की साधना से ही अनेक प्रकार की लब्धियां और शक्तियां प्राप्त की थीं। आज लोगों की स्मरण-शक्ति और नेत्र की ज्योति आदि का ह्रास हुआ है, इसका एक कारण ब्रह्मचर्य की साधना का अभाव है। छोटे-छोटे बच्चे भी अपने कीमती जीवन को बिगाड़ लेते हैं। साधना किये बिना ब्रह्मचर्य का आनन्द कैसे मिले। आवश्यकता है, व्यक्ति ब्रह्मचर्य की साधना करे।

ब्रह्मचर्य की साधना

ब्रह्मचर्य की साधना के लिये आठ प्रकार के संयम अपेक्षित हैं—

१. स्थान-संयम २. वाणी-संयम ३. आसन-संयम ४. दृष्टि-संयम ५. श्रुति-संयम ६. स्मृति-संयम ७. खाद्य-संयम ८. शृंगार-संयम।

स्थान-संयम—स्थान का वृत्तियों पर असर पड़ता है। इसलिये साधक का स्थान शुद्ध होना चाहिए। यानी स्त्री और नपुंसकरहित होना चाहिए। यदि साधक स्त्री है तो स्थान पुरुष और नपुंसकरहित होना चाहिए। अश्लील चित्रों का वहां होना भी साधना के अनुकूल नहीं है।

वाणी-संयम—साधक कामोत्तेजक कथा का वर्जन करे।

आसन-संयम—साधक उस आसन का वर्जन करे, जहां स्त्री बैठी हो, नपुंसक बैठा हो।

दृष्टि-संयम—साधक सभी स्त्रियों को माता की दृष्टि से देखे। मातृत्व की भावना का विकास करे। माता पूज्य होती है। उसमें विकार की दृष्टि नहीं होती।

श्रुति-संयम—साधक सिनेमा आदि के कामोद्दीपक गाने न सुने। स्त्री-पुरुष का प्रेमालाप और वैकारिक शब्द भी न सुने। आज के युवक-युवतियां सिनेमा आदि देखते हैं। उनका उनके जीवन पर कैसा असर होता है, यह प्रत्यक्ष ही है। इसी प्रकार अश्लील उपन्यास आदि पढ़ना भी घातक है।

स्मृति-संयम—साधक ने साधना से पूर्वावस्था में यदि काम-भोग किए हों, तो उनका स्मरण न करे। मन सत् कार्य में लगा रहेगा तो भोग के चिंतन का अवकाश ही नहीं रहेगा। निकम्मे रहने से अनेक प्रकार की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पनाएं होती हैं। अतः साधक प्रतिक्षण मन को सत्कार्य में लगाए।

खाद्य-संयम—साधक गरिष्ठ और अतिभोजन से बचे।

शृंगार-संयम—साधक विभूषा न करे।

साधना के ये आठ सूत्र हैं। साधक इन आठों सूत्रों की साधना में सदैव जागरूक रहे।

कुछ लोग कहते हैं, हम साधना करना तो चाहते हैं, पर मानसिक स्खलना हो जाती है। शारीरिक और वाचिक नियंत्रण रखने पर भी मानसिक असंयम से साधना पूरी नहीं होती, इसलिए छोड़ देते हैं। मैं उन्हें कहना चाहता हूं कि यह चिंतन भूलभरा है। शारीरिक और वाचिक संयम हो तो मानसिक संयम का अभ्यास करें। अभ्यास-अवस्था में मानसिक संयम न रह सके तो उसे वाचिक और कायिक असंयम तो न बनाएं। तत्वतः मानसिक असंयम बुरा है, पर वाचिक और कायिक असंयम न होने से व्यवहार बुरा नहीं बनता। किसी के मन में किसी को मारने की भावना हो और वह उसे वाचिक या शारीरिक रूप नहीं देता तो उसे दंड या फांसी नहीं मिलती। वह तो तभी मिलती है, जब वह किसी को मार देता है। अतः मानसिक असंयम के अभाव में साधना को छोड़ना अनुचित है।

क्रिया के चार क्रम

आगम में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार—क्रिया के ये चार क्रम बतलाए गए हैं। किसी दुष्प्रवृत्ति के लिए मन में संकल्प करना अतिक्रम है। उस कार्य को करने के लिए प्रस्थान करना व्यतिक्रम है। उसके लिए तत्परता करना, सामग्री जुटाना अतिचार कहलाता है। उस दुष्प्रवृत्ति का आचरण कर लेना अनाचार है। इन चारों में से प्रथम दो अवस्थाओं में व्यक्ति का इतना नुकसान नहीं होता, जितना अतिचार और अनाचार से होता है। कारण यह कि अतिक्रम और व्यतिक्रम—इन दोनों अवस्थाओं में व्यक्ति की भावना बदल सकती है। ऐसी स्थिति में संभव है कि व्यक्ति उस दुष्प्रवृत्ति का शिकार न भी बने।

प्रसंग रामायण का

रामायण का एक प्रसंग है। राजा और मंत्री दोनों घूमने गए। मार्ग में एक बस्ती से होकर गुजरे। एक घर में वे मेहमान बने। गृहस्वामी के एक रूपवती कन्या थी। मंत्री उस पर प्रेमासक्त हो गया। किन्तु गृहस्वामी ने भेंट-उपहारस्वरूप अपनी कन्या की शादी राजा के साथ कर दी। वहां से वे राजधानी लौट आए। मंत्री के मन पर इसका गहरा असर हुआ। विरह के कारण उसका शरीर क्रमशः क्षीण होने लगा। राजा ने उससे कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानने की कई बार चेष्टा की। पर हर बार उसे असफलता ही मिली। मंत्री 'ऐसे ही' कहकर बात टालता रहा। कभी भी उसने अपना मन नहीं खोला। और खोलता भी कैसे, राज-रानी से प्रेम करने की बात कोई सामान्य बात तो नहीं थी। यह तो एक प्रकार से मौत को ही न्योतना था। पर एक दिन राजा ने एकान्त में अपनी शपथपूर्वक अत्यन्त आत्मीयता से बार-बार पूछा तो वह आग्रह को टाल नहीं सका। उसने निस्संकोच अपनी मनःस्थिति प्रकट कर दी। राजा ने मीठा उपालंभ देते हुए कहा—'राजा-मंत्री के सम्बन्ध से भी अधिक हम दोनों के परस्पर आत्मीय मित्र के सम्बन्ध हैं। ऐसी स्थिति में यह ऐसी क्या बात थी, जो तुमने बार-बार पूछने पर भी छुपाकर रखी। यदि पहले ही बता देते तो ऐसी स्थिति उत्पन्न होने की नौबत ही नहीं आती। खैर, इतना ही अच्छा हुआ, जो तुमने अब बता दिया। अब तुम निश्चिन्त रहो। तुम्हारी मनोभावना पूरी होगी।'

अवसर देखकर राजा ने रानी को एक रात मंत्री के निवास-स्थान पर जाने का निदेश दिया। इस अप्रत्याशित निदेश को सुन रानी एकदम घबराई। और यह बिलकुल स्वाभाविक ही था। उसने राजा से इस निदेश को वापस लेने के लिए बहुत निवेदन किया। पर राजा ने उसकी एक नहीं सुनी। रुख कड़ा करता हुआ बोला—'मैं इस सम्बन्ध में कुछ भी सुनना नहीं चाहता। निदेश निदेश ही होता है। उसका हर हालत में पालन होना चाहिए। पालन न होने का परिणाम तुम जानती ही हो।'

रानी के समक्ष एक तरफ अपने शील की रक्षा का प्रश्न था तो दूसरी तरफ राजाज्ञा के पालन का। शील की रक्षा तो उसे करनी-ही-करनी थी, साथ ही राजा का कोप-भाजन बनना भी उसे उचित नहीं लगा। अतः इस निर्णय के साथ कि कोई विपरीत स्थिति आई तो प्राणोत्सर्ग की किम्मत पर भी शील को खण्डित नहीं होने दूंगी, उसने मंत्री के निवास-स्थान पर जाने के लिए स्वयं को तैयार किया। भारी कदमों से वह मंत्री के भवन पहुंची। मंत्री बड़ी आतुरता से उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। रानी जैसे ही भवन की सीढ़ियां चढ़ने लगी, मंत्री की दृष्टि उस पर गिरी। उसे देखते ही सहसा मंत्री की भावना एकदम बदल गई। उसके मन में चिन्तन उभरा—राजा की रानी सबकी माता होती है। माता पर बुरी दृष्टि करना महापाप है। उसने अपनी आत्मा को धिक्कारा और रानी की अगवानी करता हुआ बोला—'पधारिये माताजी! आपने बड़ी कृपा की। मेरे घर को पावन किया।' रानी ने समझ लिया—मंत्री की भावना विशुद्ध है। बस, वह उन्हीं पैरों राजमहल को लौट गई। पीछे से मंत्री ने अपने इस पाप के प्रायश्चित्त-स्वरूप आत्महत्या करनी चाही। पर ज्योंही उसने कटारी घोंपने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हाथ ऊपर उठाया कि किसी ने पीछे से उसका हाथ पकड़ लिया। मंत्री ने मुड़कर देखा तो वह राजा था। अपराधबोध से ग्रसित मंत्री लज्जित हुआ और बोला—'मुझे मत रोकिए, मरने दीजिए, मेरे जैसा नीच संसार में दूसरा कोई नहीं है।' राजा ने समझाया—'नहीं, यह कभी नहीं हो सकता। मुझे तुम पर पूर्ण विश्वास था, तभी तो मैंने रानी को ऐसा निदेश दिया था।'

इस घटना ने मंत्री के जीवन की सम्पूर्ण धारा को ही बदल दिया।

तात्पर्य यह कि शरीर से अब्रह्मचर्य का सेवन न करना भी ब्रह्मचर्य की साधना का एक स्तर है। साधक पहले शारीरिक अब्रह्मचर्य का त्याग करे और फिर क्रमशः वाणी व मन का संयम करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५५. सत्य की शाश्वत साधना

मुझे 'सत्य की साधना' के सन्दर्भ में कुछ कहना है। यद्यपि यह विषय वर्तमान युग के अनुकूल नहीं है, क्योंकि लोगों का लगाव और आकर्षण असत्य के प्रति है। इसलिए यदि मैं इसके स्थान पर 'असत्य की साधना' पर बोलूं तो संभवतः ज्यादा प्रासंगिक होगा, लोग ज्यादा ध्यान से सुनेंगे और प्रसन्न होंगे। भले युग के अनुकूल हो या न हो, पर इतना तो सबको स्वीकार करना ही होगा कि साधना के अनुकूल सत्य की ही बात है। असत्य की बात लोगों को रुचिकर होने के उपरांत भी साधना के अनुकूल नहीं है। आपको ख्याल में रहना चाहिए कि युग बदलते रहते हैं, युग-युग में लोगों का चिंतन बदलता रहता है, पर शाश्वत साधना कभी नहीं बदलती।

आप लोग मान बैठे हैं कि अभी कलियुग है। इसमें सत्य से काम नहीं चल सकता। पर मैं आपसे कहना चाहता हूं कि आप इस कलियुग की बात को भूल जाएं। जब तक आपके सिर पर यह कलियुग का भूत सवार रहेगा, तब तक आप सत्य को सही रूप में ग्रहण नहीं कर सकेंगे। अतः आप तो यही सोचकर चलें कि अभी सत्युग है और हमें सत्य की साधना करनी है।

आगमों में कहा गया है—**'सच्चम्मि धिइं कुव्वहा'**—सत्य में धैर्य रखो। **'सच्चं लोयम्मि सारभूयं'**—सत्य लोक में सारभूत है। सत्य समुद्र के समान गंभीर और मेरु के समान ध्रुव है। सब विद्याएं सत्य-प्रतिष्ठित हैं—**'जे वि य लोगम्मि अपरिसेसा ..... विज्जा ..... सव्वाणि वि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं।'** ऋग्वेद में भी कहा गया है—**'ऋतस्य पथा प्रेतः'**—सत्य के पथ पर चलो। सत्य की साधना करो। साधना का फल तत्काल नहीं मिलता। इसलिए फलाभाव में अपने धैर्य को मत खोओ। निष्ठा के साथ सत्य की साधना करो।

सत्य की साधना के लिए असत्य का ज्ञान करना भी आवश्यक है। उसको जाने-समझे बिना सत्य की साधना कैसे संभव होगी। शास्त्रों में असत्य को विकृति—माया कहा गया है। एक असत्य को ढांकने के लिए व्यक्ति को बार-बार असत्य बोलना पड़ता है।

ब्राह्मण जा रहा था। मार्ग में एक विद्वान् मिल गया। उसने पूछा—**'ओ सखे! कक्षे किं वद?'**—मित्र! तुम्हारी कांख में क्या है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्राह्मण यथार्थ प्रकट करना नहीं चाहता था। इसलिए झूठ बोला—**'पुस्तकम्।'**—पुस्तक है।

ब्राह्मण के इस उत्तर से विद्वान् समाहित होने के स्थान पर उलझ गया। उसने पुनः जिज्ञासा की—**'किं उदकम् ?'**—यदि पुस्तक है तो इसमें पानी क्यों टपकता है ?

अपने पूर्व असत्य को ढांकने के लिए ब्राह्मण को फिर नया असत्य बोलना पड़ा—**'काव्यस्य सारो रसः।'**—यह जल नहीं, अपितु काव्य का रस है।

'पुच्छं किम् ?'—पर इसमें यह पूंछ-सी क्या है ?

'ताड़पत्रं लिखितम्।'—यह तो ताड़पत्र है।

'चित्रं किम्? '—पर यह रंग-बिरंगा क्यों है ?

'गोडाक्षरम्।'—गोड़ लिपि में है। इस लिपि में अक्षर चित्रमय होते हैं।

'गंधः किम् ?'—इसमें गंध क्यों आती है ?

'राम-रावण-महासंग्राम-गंधोस्करः।'—राम और रावण के संग्राम में जो खून-खराबा हुआ, उसकी गंध आ रही है।

.....

.....

अन्त में वह ब्राह्मण बोला—**'भूयः किं ननु पृच्छसि भृण सखे ! संजीवनं पुस्तकम्।'**—मित्र ! बार-बार क्या पूछ रहे हो, यह तो मछली है।

बन्धुओ ! आप देखें, ब्राह्मण पहले झूठ बोला। उसको सिद्ध करने के लिए या ढांकने के लिए उसे बार-बार झूठ बोलना पड़ा। पर कितनी बार बोलता। आखिर उसे सत्य का सहारा लेना ही पड़ा। सत्य के आधार बिना झूठ भी नहीं चल सकता। यही तो वजह है कि झूठ बोलने वाला भी झूठ को सत्य बताएगा, अन्यथा उसका काम नहीं चल सकता।

असत्यवादी कौन ?

मैं देख रहा हूं, आजकल बहुत-सारे लोग सत्य की बात को अव्यवहार्य मान रहे हैं। मेरी दृष्टि में यह उनकी कायरता है, भयंकर कायरता है। क्या आप जानते हैं, असत्य का आचरण कौन करते हैं ? असत्य का आचरण हीन आदमी करते हैं। शास्त्रों में कहा गया है—**'णीयजणा णिसेवियम्।'**—असत्य वे बोलते हैं, जो नीच हैं। पर कैसा युग आया है कि आज तो उच्च कहलाने वाले लोग भी असत्य का आचरण करते हैं। सारांश यही है कि असत्य भले कोई भी बोले, यह अच्छी बात नहीं है। इससे व्यक्ति का स्तर गिर जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप ध्यान दें, असत्य वे बोलते हैं, जिनका सत्य में विश्वास नहीं है। असत्य वे बोलते हैं, जो दुराग्रही हैं। असत्य वे बोलते हैं, जो दार्शनिक 'सत्' तत्व का अपलाप करते हैं। असत्य वे बोलते हैं, जो कूट तोल-माप करते हैं, अनैतिक व्यापार करते हैं। मेरी निश्चित अवधारणा है कि अच्छा आदमी कभी झूठ बोलना नहीं चाहता।

क्या यह महापाप नहीं है ?

जो लोग मिथ्या प्रचार करते हैं, वे पाप ही नहीं, महापाप भी करते हैं। इसलिए कि वे स्वयं के अहित के साथ-साथ हजारों-लाखों लोगों को भी गलत मार्ग पर ले जाते हैं। आप ही सोचें, दूसरे लोगों को गलत पथ पर ले जाना क्या महापाप नहीं है ? नास्तिकता का प्रचार करने वाले और क्या करते हैं। वे अपने विचारों से भ्रमित/गुमराह कर लाखों-लाखों लोगों को उन्मार्ग पर ही तो ले जा रहे हैं। कुछ साधुवेशधारी लोग भी असत्य से अपनी आजीविका चलाते हैं। मैं पूछना चाहता हूं, क्या यह दुनिया के साथ धोखा नहीं है ? महापाप नहीं है ?

बहुत-सारे लोग असत्य का सहारा लेकर अर्थ-संग्रह करते हैं। उनके जीवन को देखकर ऐसा लगता है कि अर्थ ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन गया है। मैं उन लोगों से कहना चाहता हूं कि वे अपनी इस मनोवृत्ति को बदलें। उन्हें समझना चाहिए कि गलत तरीकों से संग्रह किया गया धन अधिक समय तक टिकता नहीं। यदि कोई टिकाने का प्रयास भी करता है तो वह उसमें सफल नहीं होता। फिर उन्हें यह भी तो सोचना चाहिए कि अर्थ केवल सामाजिक जीवनयापन का साधनमात्र है। इससे आगे उसकी कोई उपयोगिता एवं उपादेयता नहीं। फिर असत्य के सहारे धन-संग्रह करना कहां की समझदारी है।

असत्य-भाषण के कारण

सत्य के साधक को असत्य बोलने के कारणों को दूर करना चाहिए। परिणाम/कार्य को मिटाने के लिए कारण को मिटाना आवश्यक है। कारण के मिटे बिना परिणाम/कार्य को मिटाने की बात बेमानी है। असत्य के कारण जब तक उपस्थित हैं, सत्य की साधना संभव नहीं है।

आप पूछ सकते हैं, असत्य-भाषण के कारण कौन-कौन से हैं ? प्रायः व्यक्ति क्रोध, लोभ, भय और हास्य—इन चार स्थितियों के वशीभूत होकर असत्य बोलता है।

क्रोधी मनुष्य को सत्यासत्य का विवेक नहीं रहता। ऐसी स्थिति में वह प्रायः झूठ बोलता है। भय असत्य बोलने का बड़ा कारण है। व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गलत कार्य कर लेता है। पर उसे स्वीकार करने की हिम्मत नहीं जुटा पाता। यदि मैं स्वीकार कर लूंगा, सही-सही बता दूंगा तो जाने क्या होगा, लोग क्या समझेंगे, यह आशंका/भय उसे न चाहते हुए भी झूठ बोलने को प्रेरित करता है। पर मैं कहना चाहता हूं कि गलत कार्य करने वाला और उसे स्वीकार न करने वाला कायर होता है, जबकि उसका हिम्मत के साथ प्रायश्चित्त करने वाला वीर। लेकिन आज तो उलट-पलट का खेल हो गया है। लोग ऐसा मानने लगे हैं कि निडर होकर गलत कार्य करना और फिर उसे किसी भी स्थिति में स्वीकार न करना, क्षमा न मांगना, प्रायश्चित्त न करना वीरता है। गलती को सहर्ष स्वीकार कर क्षमा मांगने वाला, प्रायश्चित्त करने वाला कायर होता है। यह वृत्ति व्यक्ति के विकास की बहुत बड़ी बाधा है। इसमें बदलाव की अत्यंत अपेक्षा है। अपनी भूल/प्रमाद को स्वीकार करने में भय खाना उचित नहीं है। हिम्मत जुटाकर ऋजुता के साथ स्वीकार कर लेना चाहिए। गुरु को निवेदन कर उसका प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए। अन्यथा पाप-प्रक्षालन नहीं होगा। उसकी गठरी उम्रभर सिर पर ढोनी होगी, बल्कि अगले जन्म में भी उसे उठाकर साथ ले जाना होगा।

लोभ के कारण असत्य बोलना बहुत सामान्य-सी बात है। हास्य के कारण तो आदमी बिना किसी खास प्रयोजन के भी झूठ बोल देता है। सत्य के साधक को इन चारों कारणों से बचना चाहिए, सलक्ष्य बचना चाहिए।

जरूरी है विवेक

सत्य बोलने में भी विवेक की नितांत अपेक्षा है। कहा गया है—**'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्।'** सत्य भी ऐसा बोलना चाहिए, जो प्रिय हो, जो विवेक से संयुत हो। विवेक के बिना बोला गया सत्य बहुधा असत्य से भी ज्यादा हानिप्रद हो जाता है।

सेठजी के यहां एक क्षत्रिय रहता था। उसका काम था—सेठजी को पानी पिलाना। वह अपने इस काम के प्रति अत्यंत जागरूक था। सेठजी जब-कभी बाहर जाते तो वह भी पानी की व्यवस्था के साथ उनके साथ हो जाता। एक दिन सेठजी किसी दूरस्थ गांव में गये। उस क्षत्रिय को तो साथ जाना ही था। गर्मी का मौसिम था। सेठजी को बार-बार प्यास लग रही थी। वह क्षत्रिय हर बार ठण्डा पानी पिलाकर उनकी प्यास शांत कर रहा था। पर कब तक करता। एक अवधि के पश्चात् साथ लाया सारा पानी समाप्त हो गया। उसको चिंता हुई। उसने मार्ग में चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। संयोग से उसकी दृष्टि एक बावड़ी पर पड़ी। वह सीधा उसी ओर चल पड़ा। लोगों ने देखा तो उसे रोका और वहां न जाने की सलाह दी, आग्रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया। कारण पूछने पर उन्होंने बताया कि जो भी आज तक उस बावड़ी के भीतर गया, वह जीवित वापस नहीं आया। क्षत्रिय ने लोगों की बात सुनी अवश्य, पर बावड़ी में जाने के अपने विचार को नहीं बदला। वह साहस कर बावड़ी के भीतर गया। देखा—पानी स्वच्छ और शीतल है। उसने जी-भर पानी पिया। पर जैसे ही अपना बर्तन भरकर चलने को तैयार हुआ कि सहसा एक दैत्य वहां प्रकट हुआ। उसका चेहरा विकराल था। हाथ में हड्डियों की एक माला थी। वहां पहुंचते ही उसने उस क्षत्रिय से प्रश्न किया —'मैं कौन हूं?'

क्षत्रिय को यह समझते हुए देर नहीं लगी कि लोगों ने जिस खतरे के प्रति मुझे सावधान किया था, वह यही है। पर वह घबराया नहीं। उसने उत्तर दिया—'आप देव हैं।'

'मेरे हाथ में क्या है?'—दैत्य का अगला प्रश्न था।

'आपका आयुध।'—क्षत्रिय बोला।

'यह कैसा लगता है?'—दैत्य ने तीसरा और अन्तिम प्रश्न किया।

'जैसा इन्द्र के हाथ में वज्र।'

क्षत्रिय के उत्तरों से दैत्य अत्यंत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'तुम इच्छित वरदान मांगो।'

क्षत्रिय ने कहा—'वरदान मांगने का कह कर आपने मेरे पर बहुत कृपा की। पर मुझे मेरे लिए कोई वरदान नहीं चाहिए। आप प्रसन्न हैं तो इस बावड़ी का पानी पीने में किसी को कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। बस, इतना-सा मेरा निवेदन आप स्वीकार कर लें।'

दैत्य बोला—'मैंने तो कभी कोई बाधा नहीं दी। जो लोग मरे, उसके लिए वे स्वयं ही जिम्मेदार हैं। जब भी कोई पानी पीकर जाता, मैं आज की तरह ही उपस्थित होकर ये तीन प्रश्न करता। कुछ तो मेरे रूप को देखकर उत्तर देने के पूर्व ही डर से मर गए। कइयों ने उत्तर दिया—तू राक्षस है। तेरे हाथ में मृत पशुओं की हड्डियां हैं। तू ढेढ जैसा लगता है। ..... बस, कर्णकटु उत्तर देने के कारण मैंने उन्हें मार दिया।'

क्षत्रिय को बावड़ी से किसी के भी जीवित वापस न आने का वास्तविक कारण मिल गया। उसने दैत्य से कहा—'सब लोगों में बोलने का विवेक नहीं होता। इसलिए वे ऐसा अप्रिय उत्तर दे देते हैं। खैर, अब आप बावड़ी का पानी पीने वाले को दर्शन देने का कष्ट न करें तो यह स्थिति बनेगी ही नहीं। सारी बाधा स्वयं समाप्त हो जाएगी।'

दैत्य ने क्षत्रिय को 'तथाऽस्तु' कहते हुए उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दैत्य के अन्तर्धान होने के पश्चात् वह क्षत्रिय बाहर आया। उसने लोगों को सारी बात यथावत् सुनाई। सुनकर लोग अत्यंत प्रसन्न हुए। वे उन्मुक्त कंठों से उसका गुण-गान करने लगे।

बन्धुओ ! आप देखें, जो लोग अब तक बावड़ी में जाते रहे, उन्होंने भी सत्य कहा और क्षत्रिय ने भी सत्य कहा। पर दोनों के परिणाम में आकाश-पाताल का-सा अंतर आया। कारण बहुत स्पष्ट है। लोगों का सत्य-भाषण प्रिय नहीं था, विवेक-संयुत नहीं था, जबकि क्षत्रिय का सत्य-भाषण प्रिय था, विवेकयुत था। इसलिए मैंने कहा कि सत्य के साथ विवेक होना चाहिए। कुछ लोग अपने को स्पष्टवादी बताते हैं। मैं समझता हूं, स्पष्टवादी होना कोई बुरी बात नहीं हैं, पर उसकी मर्यादा यह है कि वह विवेक से अनुशासित हो। यदि कोई इस मर्यादा का अतिक्रमण कर स्पष्ट-वादिता के नाम पर किसी का मर्मोद्घाटन करता है तो वह सत्य असत्य से ज्यादा भयंकर है। इसलिए सत्य के विवेक-संयुत होने की बात का महत्त्व समझना चाहिए। एकान्ततः सत्य की बात न पकड़कर, उसके भाव को भी देखना चाहिए।

सत्य का व्यापक रूप

सत्य का व्यापक रूप है—ऋजुता। ऋजुता का अर्थ है—सरलता। उसके तीन भेद हैं—

- काय-ऋजुता।
- भाव-ऋजुता।
- भाषा-ऋजुता।

असत्य न बोलने पर भी व्यक्ति काय-ऋजुता के अभाव में असत्य-वादी बन जाता है। आप देखें, मौन रहकर भी कोई व्यक्ति अंगुली-संकेत, नेत्र-संकेत आदि से बड़ा-से-बड़ा अनर्थ कर सकता है। इसलिए सत्य के साधक में काय-ऋजुता का होना अत्यंत आवश्यक माना गया है।

भाव-ऋजुता से तात्पर्य है—जैसा भीतर, वैसा बाहर। यानी भीतर-बाहर की एकरूपता। सत्य-भाषण के साथ व्यक्ति के विचारों में सरलता होनी चाहिए। विचारों की सरलता न होना ही तो माया है। माया असत्य का दूसरा नाम है। इसलिए आप इस बात को हृदयंगम करें कि जहां सरलता है, ऋजुता है, वहां सत्य है। ऋजुता और सत्य दोनों एक ही हैं, पर्यायवाची हैं। सत्य का व्यापक रूप ही ऋजुता है। सत्य-साधक को तीनों प्रकार की ऋजुता की समान रूप से साधना करनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकल्प का मूल्य

साधना के लिए संकल्प आवश्यक है। सत्य-साधक संकल्प करे—**'अहं अनृतात् सत्यमुपैमि।'**—मैं असत्य को छोड़ सत्य को स्वीकार करता हूं। उसमें मेरा अटूट विश्वास है। यह एक अनुभूत सत्य है कि दृढ निष्ठावान् व्यक्ति ही साधना में सफल हो पाता है और संकल्प के बिना निष्ठा घनीभूत नहीं होती। **'सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्।'**—सत्य की नाव ही सत्यनिष्ठ की नाव पार लगाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५६. मनुष्य मनुष्य का शत्रु नहीं होता

कलह-वैमनस्य का वातावरण क्यों ?

आज का युग आदर्शों की बातें तो बहुत करता है, पर उन पर चलता नहीं, उनसे दूर हटता जा रहा है। मानव आज संघर्ष में व्यस्त है। आपसी कलह, वैमनस्य, ईर्ष्या, शत्रुता आदि प्रलयकाल का-सा दृश्य सामने ला रहे हैं। प्रलयकाल में मैत्री, प्रेम जैसी कोई चीज नहीं होगी। उस समय जो होने का है, वह होगा। किन्तु वह स्थिति अभी क्यों हो रही है ? क्या यह मानव के लिए गंभीर चिंतन की बात नहीं है।

जैन मैत्री-सहृदयता को प्रश्रय दें

साम्प्रदायिक कलह भी आज कम नहीं है। एक सम्प्रदाय की दूसरे सम्प्रदाय पर वक्रदृष्टि है। मुझे खेद है कि आज जैन-सम्प्रदाय भी कलह की लपटों में झुलस रहे हैं। सम्प्रदाय पृथक्-पृथक् हो सकते हैं, विचारों में परस्पर मतभेद भी हो सकता है, पर इस कारण आपस में झगड़ना, एक-दूसरे पर छींटाकशी करना, एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करना कहां तक उचित है। आखिर मानते तो सब भगवान महावीर के आदर्शों को ही हैं। भगवान महावीर तो मैत्री-मंत्र के महान् उद्गाता हैं। इसलिए उनके अनुयायियों में तो सहृदयता एवं बंधुत्व की भावना होनी चाहिए। एक-दूसरे के सहयोगी एवं पूरक बनकर व्यापक दृष्टिकोण से सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त आदि सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करना चाहिए। जैन बन्धु इस बात को गंभीरता से समझें कि आज कलह-वैमनस्य की नहीं, संगठन, प्रेम व सहयोग की आवश्यकता है। फिर सहयोग के विपरीत रोड़े अटकाना तो सर्वथा अनुचित है।

मुझे यह बहुत साफ-साफ दिखाई देता है कि साम्प्रदायिक भावनाओं को प्रश्रय देने वाले सम्प्रदायों का भविष्य उज्ज्वल नहीं है, बल्कि कहना चाहिए, अंधकारमय है, असुरक्षित है। क्यों ? इस 'क्यों' का उत्तर बहुत स्पष्ट है। साम्प्रदायिकता के रंग में रंगे वे भगवान महावीर के आदर्शों की यथार्थ प्रस्तुति जनता के समक्ष कैसे कर पाएंगे। पारस्परिक कलह,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैमनस्य और शत्रुता के पर्याय बने वे विश्वमैत्री और विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रसार कैसे कर सकेंगे। ऐसी स्थिति में उनकी प्रासंगिकता एवं उपादेयता के सामने एक बड़ा-सा प्रश्नचिह्न लग जाएगा। जनता उन्हें नकार देगी। नेतृत्व प्रभावहीन हो जाएगा। संगठन छिन्न-भिन्न हो जाएगा। अतः श्रेयस्कर यही है कि वे साम्प्रदायिकता और पारस्परिक वैमनस्य को तजकर मैत्री-सहृदयता को प्रश्रय दें।

संसार संत्रस्त क्यों ?

मैं मानता हूं, व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र सभी स्तरों पर सुख और शांति के लिए मैत्री सर्वाधिक मूल्यवान् तत्व है। यों तो व्यक्ति का संसार में किसी-न-किसी के साथ प्रेम होता ही है, मैत्री-सम्बन्ध रहता ही है, पर उसका क्षेत्र विस्तृत होना चाहिए। इतना विस्तृत कि उसकी परिधि में संसार के सभी मनुष्य समा जाएं। कोई भी बाहर शेष न बचे। भले कोई विरोधी भी क्यों न हो। यही विश्वमैत्री या विश्वबंधुत्व की मूलभूत भावना है। महावीर तो **'मित्ती मे सव्वभूएसु, वैरं मज्झ न केणई'**—'सभी जीवों के साथ मेरी मैत्री है, किसी के साथ वैर-विरोध नहीं है' की बात कह मैत्री के क्षेत्र-विस्तार की दिशा में और भी आगे बढ गए हैं, बहुत आगे बढ गए हैं। यानी वे मैत्री के चरम शिखर—प्राणिमैत्री की बात करते हैं। **'अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाए'**—छह ही कायों के जीवों को आत्मतुल्य समझो। प्राणिमात्र को आत्मतुल्य मानने के इस सिद्धान्त में भी भाषान्तर से उनकी वही प्राणिमैत्री की भावना प्रतिध्वनित हो रही है। पर प्राणिमैत्री और प्राणिमात्र को आत्मा के तुल्य समझने की दिशा में गति करने की बात तो बहुत दूर रही, मानव तो विश्वमैत्री की बात को भी भुला रहा है। इससे अधिक मानव-जाति का और क्या दुर्भाग्य होगा। इसी का यह दुष्परिणाम है कि सारा संसार संत्रस्त हो रहा है। अपेक्षा है, इस विश्वमैत्री और विश्वबंधुत्व की भावना का व्यापक प्रचार-प्रसार हो।

शत्रु और मित्र

क्या आप इस बात से परिचित नहीं हैं कि सजातीय तत्वों में परस्पर विरोध नहीं होता। विरोध का आधार विजातीय होना है। दूध और चीनी मिलकर एकरूप बन जाते हैं, क्योंकि सजातीय हैं। मनुष्य भी परस्पर सजातीय होते हैं, इसलिए मनुष्य वास्तव में मनुष्य का शत्रु नहीं हो सकता। उसे मित्र ही समझा जाना चाहिए। उसे शत्रु मानना चिंतन का दारिद्र्य है, मतिभ्रम है। आप ऐसा न मानें कि मात्र मद्यपान से ही उन्माद पैदा होता है, मतिभ्रम भी उन्माद पैदा करता है। और उन्माद भले किसी की भी उपज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्यों न हो, उसे अच्छा तो नहीं कहा जा सकता, हितप्रद तो नहीं माना जा सकता। इसलिए विवेक का तकाजा यही है कि व्यक्ति मतिभ्रम से बचे।

प्रसंग नमि राजर्षि का

क्या आप जानते हैं, कौन होता है शत्रु ? शत्रु होता है अहित करने वाला। मित्र कभी भी अहित नहीं कर सकता। नमि मिथिला के अधिपति थे। संसार से विरक्त होकर प्रव्रजित हुए और जंगल में तपस्या में संलग्न हो गए। इन्द्र परीक्षा करने के उद्देश्य से उपस्थित हुआ। उसने कहा—'राजर्षे ! अभी आपकी नगरी शत्रुओं से संकुल है। शत्रु बलवान् हैं। अतः पहले उन्हें परास्त करें, फिर प्रव्रजित बनें।' राजर्षि नमि ने कहा—

'जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥'

—दस लाख योद्धाओं को जीतने वाले की अपेक्षा अपनी एक आत्मा को जीतने वाला महान् विजेता है।

नमि राजर्षि के इस उत्तर में शत्रु का चित्र बहुत स्पष्ट है। अपना दुष्प्रवृत्त आत्मा ही व्यक्ति का अहित करने वाला है, इसलिए वही एकमात्र शत्रु है। वैसे यह निश्चय नय की भाषा है। व्यवहार में मनुष्य भी शत्रु लग सकता है, पर निश्चय में तो वह मित्र ही है। इसलिए मैंने कहा, मनुष्य मनुष्य का शत्रु नहीं हो सकता। अपेक्षा इतनी-सी है कि मैत्री के क्षेत्र को विस्तृत कर उसे विश्वमैत्री एवं विश्वबंधुत्व तक ले जाया जाए। तभी मानव-जाति सुख और शांति से जी सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५७. बचपन को संवारें

मानव-समाज की आज जो स्थिति है, वह कोई उत्साहप्रद नहीं है। उसमें कोई आनन्द नजर नहीं आता है। मनुष्य कोई भी काम करता है, वह आनन्द के लिए ही करता है। कठिन-से-कठिन काम भी मनुष्य इसलिए खुशी से करता है कि उसमें उसे आनन्द मिलता है। आज जबकि यातायात के अनेकानेक साधन विकसित हो गए हैं, हम साधु लोग हजारों मील कड़ी धूप में पैदल चलते हैं। यह क्यों? इसलिए कि हमें इसमें आनन्द की अनुभूति होती है। आनन्द की अनुभूति इसलिए कि हम अपने-आप पर विजय पाने के लिए सचेष्ट हैं। और इस सचेष्टता के चलते पद-यात्रा में ही क्यों, किसी भी कठिन-से-कठिन काम में हमें आनन्द महसूस होता है। पर साधारण मनुष्यों की आज ऐसी स्थिति नहीं है। वे कोई भी काम करते हैं, उसमें उन्हें आनन्द महसूस नहीं होता। इसका कारण यह है कि उनका जीवन भिति-शून्य हो गया है। उनके पैरों से नीति की भित्ति खिसक गई है। लोग इसका समाधान भी पाना चाहते हैं, पर लगता है जैसे समाधान मिल नहीं रहा है।

विद्यार्थी-काल निर्माण-काल है

मेरी दृष्टि में इसका सही समाधान यही है कि बचपन को संवारा जाए। बालक-बालिकाओं के जीवन-निर्माण पर ध्यान केन्द्रित किया जाए। बचपन में वे जैसे होने हैं, हो जाएंगे। इस समय उनमें अच्छे संस्कारों का आना असम्भव नहीं है। इसीलिए देश के विचारक प्रयत्न करते हैं, जगह-जगह स्कूलें चलाते हैं, विद्यापीठें खोलते हैं। पर लगता है, इनसे भी गति सुधार की ओर नहीं मुड़ रही है। इसका कारण है कि आज वातावरण शुद्ध नहीं है। स्कूलों और विद्यापीठों में तो लड़के अध्यापकों के पास पांच-छह घण्टे रहते हैं, बाकी दिन तो उनका माता-पिता तथा पास-पड़ोस के बीच ही बीतता है। घर पर आते हैं तो वे देखते हैं—पिताजी धूम्रपान करते हैं, तास-चौपड़ खेलते हैं। मां लड़ाई करती है, सास-बहू आपस में गालियां निकालती हैं।.... इससे स्कूल की सारी शिक्षाएं नीचे दब जाती हैं। पुराने जमाने में इसीलिए विद्यार्थियों को एकान्त गुरुकुल में रखा जाता था। घर के वातावरण से वे बारह वर्षों तक बिलकुल अपरिचित-से रहते थे। गुरु ही उनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए सबकुछ थे। उनका चरित्र अच्छा होता था। अतः विद्यार्थियों में भी शुरू से ही अच्छी आदतें पड़ जाती थीं। ऐसा नहीं कि वे मनोरंजन नहीं करते थे। वह भी चलता था। पर वहां का वातावरण ऐसा रहता था कि जिससे विद्यार्थी स्वयं ही चरित्रवान् होकर निकलते थे और वे देश के लिए वरदान सिद्ध होते थे।

अभिभावकों का दायित्व

यद्यपि आज गुरुकुल वाली व्यवस्था समाप्तप्रायः हो गई है, पर कुछ व्यवस्था तो करनी ही होगी। केवल स्कूलों और विद्यापीठों से आज काम नहीं चलने वाला है। आवश्यक है कि विद्यार्थियों के आसपास का वातावरण भी शुद्ध करें। इसकी सबसे अधिक चिन्ता माता-पिता को होनी चाहिए, क्योंकि उनकी आदतें बच्चों में संक्रमित होती हैं। पर आज तो माता-पिता भी अपने बच्चों से अधिक गैर-जिम्मेवार हो रहे हैं। अपेक्षित है कम-से-कम वे अपने बच्चों के सामने लड़ाई-दंगे, गाली-गलौच, झूठ, धोखा तथा धूम्रपान जैसे अकृत्य कार्य तो न करें। यदि वे इतना-सा कर लेते हैं, तो मैं समझता हूं, बच्चे अपने-आप सुधर जायेंगे। मैं बच्चों से यदि पूछूं कि उन्होंने झूठ बोलना कबसे सीखा? क्या मुझे वे इसकी निश्चित तिथि बता सकते हैं? नहीं, क्योंकि जन्म से कोई भी बालक झूठ नहीं बोलता। वातावरण में जब वह देखता है कि अनेक लोग झूठ बोलते हैं तो वह भी झूठ बोलने लगता है। अतः माता-पिता यदि उनके सामने झूठ न बोलें तो वे झूठ बोलना सीखेंगे ही कहां से।

अध्यापक जीवन-पोथी से पढायें

माता-पिता की तरह अध्यापकों पर भी बच्चों के सुधारने की बहुत बड़ी जिम्मेवारी होती है। वे यह कहकर इस बात को टाल नहीं सकते कि उनके पास तो बच्चा केवल पांच-छह घंटे तक रहता है। मैं पूछना चाहता हूं, पांच-छह घंटे कोई कम हैं? क्या कहा सन्त तुलसीदासजी ने—

एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी में पुनि आध।
'तुलसी' संगत साधु की, कटे कोटि अपराध॥

सज्जन पुरुष की थोड़े समय की संगति से भी जनम-जनम के पाप कट जाते हैं तो प्रतिदिन पांच-छह घंटे का समय तो बहुत होता है। तात्पर्य यह कि इतने समय में अध्यापक चाहें तो बच्चों के जीवन को बहुत आसानी से सुधार सकते हैं। कुएं से पानी निकालते समय दो अंगुल डोर यदि हाथ में रहती है तो सारी डोर और पानी निकाला जा सकता है। इसी तरह इतने समय में अध्यापकगण बच्चों के जीवन को खूब संस्कारी बना सकते हैं। किंतु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे स्वयं ही यदि उसके सामने बीड़ी पीयें, गुस्सा करें, तो उनमें क्या संस्कार डाल सकेंगे ? वे इस सचाई को हृदयंगम करें कि केवल किताबी शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है, वास्तविक शिक्षा तो जीवन से मिलती है। अतः अध्यापकों को अपने जीवन को उच्च बनाना होगा। तभी वे योग्य शिक्षक बन सकते हैं। मैं मानता हूं, यदि इतना हुआ तो फिर विद्यार्थियों को उपदेश देने की विशेष आवश्यकता नहीं होगी, उनका जीवन स्वयं तदनुरूप हो जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५८. विद्यार्थी : चारित्रिक क्रान्ति का अग्रदूत

विद्यार्थी की आठ अर्हताएं

भगवान महावीर ने कहा--

- अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चई।
  अहस्सिरे सया दंते, न य मम्ममुदाहरे॥
- नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए।
  अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई॥

अर्थात् आठ गुणों से सम्पन्न विद्यार्थी ही शिक्षाशील रह सकता है। विद्यार्थी विदूषक की तरह हास्यरस न हो और न मर्मभाषी, अशील, विशील और लोलुप हो। वह अक्रोधी, सत्यनिष्ठ और इन्द्रिय-दांत हो। इस परिभाषा का व्यतिरेक उदाहरण आज के विद्यार्थी हैं। उनका जीवन-क्रम मनचाहे सिनेमा देखने के लिये, अश्लील और विचारोत्तेजक साहित्य पढने के लिये व किसी भी स्वेच्छाचार के लिये पूर्ण स्वतंत्र है।

विद्यार्थियों में व्याप्त उद्दण्डता

प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था में विद्यार्थियों की संयम-साधना के लिये अनेक अनिवार्य नियम थे। आज के विद्यार्थी-समाज पर उनमें से एक भी नियम लागू रह गया हो, ऐसा नहीं लगता। अनुशासनहीनता, अवैधानिक तरीकों से परीक्षा में उत्तीर्ण होने का प्रयत्न करना, तोड़फोड़ व लड़ाई-झगड़ा करना आदि बातें तो उनके जीवन का सहज क्रम बन गई हैं। परीक्षा के दिनों में वे प्रतिवर्ष इस दिशा में कुछ-न-कुछ नये आविष्कार कर ही डालते हैं। समाचार-पत्रों से ज्ञात हुआ है कि इस वर्ष तो परीक्षार्थी विद्यार्थियों ने छूरे और पिस्तौल का इन्तजाम भी अपने स्वेच्छाचार की सुरक्षा के लिये करना प्रारम्भ कर दिया है। कहीं-कहीं नकल आदि करने की स्वतंत्रता में व्याघात डालने वाले व्यवस्थापकों पर उनका प्रयोग भी हुआ है। एक छात्रा ने नकल करने में बाधा डालने वाली अध्यापिका का हाथ शस्त्राभाव में दांतों से ही काट खाया। दक्षिण में विद्यार्थियों की उद्दण्डता के कारण अन्नामलाई विश्वविद्यालय की परीक्षाएं भी बन्द कर देनी पड़ीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्दण्डता का कारण

विदेशों में जहां विद्यार्थी परीक्षा-काल में किसी निरीक्षक का नियुक्त होना अपना अपमान मानते हैं, वहां भारतीय विद्यार्थियों के लिए परीक्षा-स्थलों पर पुलिस तैनात रहने लगी है। सारांश यह है कि आज का विद्यार्थी-वर्ग एक ज्वलंत समस्या बन गया है। इस संक्रामक समस्या का समाधान पा लेना अत्यन्त अपेक्षित हो गया है। लाखों-लाखों विद्यार्थियों के संपर्क में आने व अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से उनमें वर्षों तक कार्य कर लेने के पश्चात् मैं तो सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि विद्यार्थियों की उद्दण्डता का एक प्रमुख कारण आज की संयम-शून्य विद्या-प्रणाली है। उस शिक्षा-प्रणाली से प्रत्यक्ष ही असंयम व उत्तेजना बढती है, संयम घटता है। सामान्यत: विद्यार्थी यह जान ही नहीं पाते कि संयम किस वस्तु का नाम है। मानसिक, वाचिक व कायिक संयम का जीवन पर क्या सुप्रभाव पड़ता है। 'संघर्ष ही जीवन है' इसके बदले यदि 'संयम ही जीवन है' यह सिखलाया जाता तो सम्भवत: उनका जीवन आज की तरह अस्त-व्यस्त नहीं होता।

समाधान की दिशा

वर्तमान स्थिति में उक्त समस्या के दो ही समाधान दृष्टिगोचर हो रहे हैं। प्रथम समाधान यह है कि अन्यान्य विषयों के साथ नैतिक-विज्ञान (मोरल साइन्स) भी हर एक विद्यार्थी को पढाया जाए। धार्मिक शिक्षा संयम व नैतिकता की प्रेरक बन सकती है। पर अब तक यह विषय देश में विवाद-ग्रस्त बना रहा है। इस दिशा में जो कठिनाई मानी जा रही है, वह यह है कि धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र में धार्मिक शिक्षा को व्यवहार्य रूप कैसे दिया जाए? नाना धर्म व विश्वास देश में हैं। किसी भी धर्म-विशेष को इस दिशा में आधार मान लेने से भाषा-प्रश्न से भी जटिलतर अनेक उलझनें पैदा हो सकती हैं। पर यह प्रश्न उक्त दुविधाओं के कारण छोड़ देने जैसा भी नहीं है। ऐसी बात नहीं है कि धार्मिक शिक्षा के विषय में कोई सर्व-सम्मत मार्ग निकल ही नहीं सकता। किन्तु जब तक वह विचार के धरातल पर है, तब तक नैतिक-विज्ञान का प्रशिक्षण ही एक राजमार्ग रह सकता है। उस नैतिक प्रशिक्षण के अध्ययनात्मक व प्रयोगात्मक नाना रूप हो सकते हैं। संक्षेप में नैतिक-विज्ञान के प्रशिक्षण का हार्द होगा विद्यार्थियों में नैतिक व सात्विक संस्कारों का आविर्भाव करना। संस्कारों का जीवन पर असाधारण प्रभाव रहता ही है। प्राचीन काल में एक ही गुरु बहुत-सारे विद्यार्थियों को संभाल लेता था। ऐसे उदाहरण स्यात् खोजे भी न मिलें कि विद्यार्थियों ने कभी गुरु पर हमला बोला हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस समय विद्यार्थियों को प्रारम्भ से ही सीखने को मिलता था—गुरु पितृतुल्य होता है। गुरुहन्ता की गति नहीं होती। गुरु से अनुशासित होने पर कुपित नहीं होना चाहिये। गुरु की अवज्ञा करने वाला विद्या नहीं प्राप्त कर सकता।..... इसका अर्थ यह नहीं कि जिन प्रकारों व जिन युक्तियों से प्राचीनकाल में विद्यार्थियों को संस्कारित किया जाता था, उन्हीं प्रकारों एवं युक्तियों को ज्यों-का-त्यों काम में लाया जाए। आज का प्रशिक्षण तो आज की भाषा व आज की शैली में ही सफल हो सकता है। पर अध्यापकों के प्रति विद्यार्थियों के मन में आन्तरिक श्रद्धा-सम्मान की भावना होनी चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक शिक्षण-संस्थाएं अनुशासित नहीं रह सकतीं। वर्तमान वातावरण में तो ऐसा लगता है, मानो विद्यार्थी-समाज अध्यापक-वर्ग को अपना पढाने वाला नौकर मानकर चल रहा है।

अस्तु, उस नैतिक प्रशिक्षण से विद्यार्थी-समाज नम्र, अनुशासनशील, व सच्चरित्र बनेगा, इसमें कोई विवाद नहीं रह जाता। इस दिशा में दूसरा मार्ग विद्यार्थियों को चरित्र-निर्माणात्मक संगठनों में लगाने का है। विद्यार्थी जब तक शान्त स्थिति में होते हैं, उन्हें अनुशासन व चरित्र की बात सिद्धांत-रूप से मान्य होती है और कर्त्तव्य-रूप से ग्राह्य होती है। प्रत्येक विद्यालय में ऐसे विद्यार्थियों का बहुमत मिल सकता है। प्रबुद्ध-विवेक दशा में यदि वे स्वयं ऐसे नैतिक संगठन बना लेते हैं, जिनका उद्देश्य विद्यार्थियों में नैतिक जागृति पैदा करना हो, तो संभव है, नब्बे प्रतिशत विद्यार्थी इन संगठनों में आ जायें। यदि इतने नहीं भी आयें तो भी वह विद्यार्थियों का एक ऐसा मोर्चा होगा, जो दूसरे विद्यार्थियों को कुमार्गगामी होने से बचायेगा और उद्दण्ड विद्यार्थियों के गिरोह को प्रभावशून्य करेगा। विद्यार्थी-समाज को कुमार्ग से बचाने वाला विद्यार्थी-समाज ही हो सकता है। इस वानरी सेना को पुलिस व अन्य शिक्षाधिकारी संभाल सकेंगे, यह कठिन लगता है।

विद्यार्थियों का राजनैतिक उपयोग बन्द हो

विद्यार्थियों की उच्छृंखल प्रवृत्ति का एक प्रमुख कारण उनका सक्रिय राजनीति में भाग लेना भी है। पर इसके लिये वे स्वयं ही दोषी हों, ऐसी बात नहीं है। राजनैतिक नेतृजन समय-समय पर उनके आवेश, भावुकता व अदूरदर्शिता का सामयिक उपयोग कर उन्हें असात्विक प्रवृत्तियों के आदी बना देते हैं। उसका परिणाम समग्र देश आये दिन भोगता रहता है। आवश्यक तो यह है कि इस विषय में सर्वदलीय निर्णय हो कि हम राजनैतिक प्रयोजन-सिद्धि में विद्यार्थियों का गलत उपयोग नहीं करेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुव्रत का सार्थक प्रयत्न

अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत नैतिक प्रशिक्षण एवं नैतिक-संगठनों के प्रयोग इन वर्षों में हुए हैं और उनका सुपरिणाम भी सामने आया है। मैंने स्वयं तथा अणुव्रत- प्रचारक सैकड़ों साधु-साध्वियों व कार्यकर्त्ताओं ने व्यापक रूप में देश के विभिन्न भागों में विद्यालयों में जा-जाकर नैतिक प्रशिक्षण का कार्य किया है। इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप लाखों विद्यार्थियों में नैतिक सामर्थ्य अर्जित हुआ है। कुछ प्रसंगों पर होने वाली हड़तालें व तोड़फोड़ की नौबतें टली हैं। अनेक विद्यालयों व महाविद्यालयों में विद्यार्थियों ने स्वयं इस कार्य को उठाया है। उन्होंने निर्धारित निम्न पांच प्रतिज्ञायें की हैं और अपने साथी विद्यार्थियों को वे प्रतिज्ञायें दिलाने में दत्तचित्त होकर लगे हैं—

१. मैं परीक्षा में अवैधानिक तरीकों से उत्तीर्ण होने का प्रयत्न नहीं करूंगा।
२. मैं तोड़फोड़मूलक हिंसात्मक प्रवृत्ति में भाग नहीं लूंगा।
३. मैं विवाह-प्रसंग में रुपये आदि लेने का ठहराव नहीं करूंगा।
४. मैं धूम्रपान व मद्यपान नहीं करूंगा।
५. मैं बिना टिकट रेलादि की यात्रा नहीं करूंगा।

देहली में उक्त दोनों प्रयोग अत्यन्त प्रभावशाली रहे हैं। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, प्रधानमंत्री श्री नेहरू व दिल्ली विश्वविद्यालय के उप-कुलपति डा वी० के० आर० वी० राव प्रभृति ने उक्त प्रयोगों को इस दिशा का आशाप्रद प्रयत्न माना है। अस्तु, अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत या किसी भी सात्विक रूपरेखा से विद्यार्थियों में नैतिक प्रशिक्षण व नैतिक संगठन के प्रयत्न व्यवस्थित व व्यापक रूप से आगे बढ़े, तो आशा है, आज का विद्यार्थी-समाज चारित्रिक क्रांति का अग्रदूत व भावी पीढ़ी का संयत सूत्रधार बन जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५९. थोड़ा गहराई से सोचें*

एक भावना : एक प्रतीक

दिवस मनाना कोई प्रथा नहीं है। उसके पीछे एक विशेष्ट भावना होती है। विचारों का प्रवाह विरल होता है और वह किसी दिन घनीभूत हो जाता है। यह एक निमित्त है और वह अपनी भावना का प्रतीक, दूसरों के लिए प्रेरक बन जाता है। राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक दिवस मनाये जाते हैं। 'अहिंसा-दिवस' राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नहीं मनाया जाता। इसके लिये अभी पृष्ठभूमि भी नहीं बनी है। लोगों में भोगवाद और सुख-सुविधावाद का विचार बड़ी तीव्र गति से प्रसार पा रहा है। इसके होते हुए 'अहिंसा-दिवस' मनाएं तो क्या और न मनाएं तो क्या।

सैनिक नियन्त्रण भी धीमे-धीमे अपने पैर जमा रहा है। लगता है, जैसे जनता में स्वयं का नियंत्रण न रहा हो या सब में सत्ता की भूख जाग उठी हो। इस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अहिंसा-दिवस मनाने का अर्थ क्या होगा।

अहिंसा-दिवस मनाने का उद्देश्य

'अहिंसा-दिवस' में आखिर आकर्षण क्या है ? यह न तो किसी क्रांति की स्मृति है और न ही भौतिक समृद्धिमय भविष्य का संकेत।

जनता उसकी मनौती करती है, जिससे कुछ भौतिक लाभ मिले। हिंसा के लाभ तत्काल होते हैं। जिस चेतावनी के पीछे अणु अस्त्र बोलते हैं, वह सफल हो जाती है और जिसके पीछे नीति की पुकार होती है, उसे बड़े लोग सहसा सुनते तक नहीं। लोगों में विश्वास पैठ रहा है कि हिंसा सफल हो रही है। इस स्थिति में अणुव्रत-आन्दोलन 'अहिंसा-दिवस' मनाने का अनुरोध करता है, यह लोगों को कुछ विचित्र-सा लग सकता है। इस विचित्रता की पृष्ठभूमि में वर्तमान विश्व का मानचित्र देखने का यत्न करें। सहसा दीख पड़ेगा कि राष्ट्रीय जीवन में इधर भोग बढ रहा है तो उधर बाहरी नियन्त्रण। इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में एक ओर स्पर्धा बढ रही है तो दूसरी ओर आणविक अस्त्रों के परीक्षण।

*अहिंसा-दिवस पर प्रदत्त संदेश।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सैनिक शासन तत्काल लाभकारी जान पड़ता है, पर वस्तुतः वह अच्छा नहीं है। वह जनता की अयोग्यता का सूचक है। एकबार हिंसा से हिंसा का प्रतिरोध होता-सा जान पड़ता है, पर आखिर दोनों में टक्कर हो जाती है। गत युद्ध में जो लोग हिंसा के परिणामों को भुगत चुके हैं, वे उसके नाम से ही आतंकित हो उठते हैं। इसलिए वे हिंसापूर्ण चेतावनी पर ध्यान देते हैं। पर इसे हम हिंसा की सफलता नहीं कह सकते।

लोग शांति चाहते हैं, पर हिंसा के मोह में फंसे हुए हैं। इस दिशा में शांति, संतोष और अहिंसा का स्वर कितना प्रबल होना चाहिए, इसकी कल्पना हममें से बहुतों को नहीं है।

'अहिंसा-दिवस' मनाने का तात्पर्य

कितना अच्छा हो भारतवासी थोड़ी गहराई से इस बात पर ध्यान दें। जहां से अहिंसा की चेतना प्रस्फुटित हुई, वहां से उसकी सुरभि फैले। 'अहिंसा-दिवस' मनाने का तात्पर्य है—

- वर्षभर के लिए भोग-प्रवृत्ति पर अंकुश रखने का संकल्प किया जाए।
- अपने से अल्प शक्ति वाले लोगों के अधिकारों को न छीनने का संकल्प किया जाए।
- आत्मानुशासन और आत्म-नियंत्रण को विकसित कर सत्ता के अनुशासन और नियंत्रण को सुदृढ होने का अवसर न दिया जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६०. मानव स्वयं अपना भाग्य-निर्माता है

मानव की आत्मा में अनन्त शक्तियां भरी पड़ी हैं। यदि वह उनकी सम्यग् अनुभूति तथा उपयोग करे तो उन शक्तियों के सहारे वह बहुत बड़ा विकास कर सकता है। मानव अपने-आप में जो अक्षमता पाता है, यह उसकी अपनी आन्तरिक शक्तियों से अपरिचित होने की सूचना है। अतः वह परावलम्बन में न जा, स्वावलम्बी बने। अपना अवलम्बन ही उसे आगे बढ़ाएगा। मांगना अपनी हीनता प्रगट करता है। असीम आत्म-वैभव का धनी मानव दूसरे के समक्ष तुच्छ-से पदार्थ के लिए हाथ पसारे, यह उसके पौरुष का, आत्म-बल का अपमान है। उसे समझ लेना है कि वह स्वयं अपना भाग्य-निर्माता है। बाहर से उसे कोई कुछ देने वाला नहीं है।

यदि मानव ने आचार से हाथ धो डाला तो मानना चाहिए कि उसके जीवन में कुछ भी बच नहीं पाया। आचारहीन को वेद, पुराण, आगम, पिटक आदि भी नहीं बचा सकते। मानव को चाहिए कि वह सत्य, शौच, शील और सद्भावना से अपना आचार ऊंचा बनाए।

धर्म एक रथ है। आचार और विचार उसके दो पहिए हैं। रथ की सुदृढ़ता और कार्यवाहकता बनाए रखने के लिए यह अपेक्षित है कि उसके दोनों पहिए मजबूत हों। धर्म के लिए भी ऐसी ही बात है। जहां उसका विचार-पक्ष सात्त्विक और पवित्र होना चाहिए, वहां उसका आचार-पक्ष भी उतना ही उन्नत और उजला होना चाहिए।

मनुष्य जहां एक इकाई है, वहां वह समाज और राष्ट्र का भी एक अंग है। समाज और राष्ट्र के साथ उसका गहरा सम्बन्ध है। वह जो कुछ करता है, उसका उसके अपने लिए तो महत्त्व है ही, समाज पर भी उसका असर हुए बिना नहीं रहता। इसलिए उसका यह अनवरत प्रयास रहना चाहिए कि वह अपने जीवन को अधिकाधिक सद्वृत्तियों से संजोया रखे। उसका अपना जीवन ऊंचा उठेगा, सुखी बनेगा तो दूसरों पर भी उसकी एक अच्छी छाप पड़ेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६१. मानवता मुसकाए

जीवन-स्तर ऊंचा उठे

आज के मानव की दशा बड़ी शोचनीय हो गई है। बहुत-कुछ पाने के बावजूद भी वह खोया-खोया-सा हो रहा है। रहने के लिए बंगला उसके पास है। चढने के लिए मोटर है। मनोविनोद के लिए रेडियो है। और भी अनेक प्रकार के साधन हैं। पर यह सब होते हुए भी उसका जीवन अशांति की आग में झुलसा जा रहा है। कारण ? कारण बहुत स्पष्ट है। उसने अपने जीने का स्तर बढाया, पर अपने जीवन का स्तर नही बढाया। जीवन का स्तर भौतिक अभिसिद्धियों से ऊंचा नही बनता, वैभव और सम्पदा से नहीं बढता। वह तो सत्य, प्रामाणिकता, नैतिकता, न्याय और सदाचरण से ऊंचा उठता है। ये ही वे मानवोचित सद्गुण है, जिनके अभाव में मानव केवल कहने भर को मानव होता है, मानवता उसको नहीं छू पाती।

जीवन सत्यानुशासित हो

प्रत्येक व्यक्ति का पहला कर्तव्य है कि वह अपने-आप को देखे, अपना स्वयं का जीवन टटोले। आगम की भाषा में वह सच्चा मेधावी है, वह दुःखों को तरता है। ऐसा व्यक्ति सत्य से अनुशासित होता है। सत्यानुशासित व्यक्ति के लिए कही भी भय नहीं, शोक नही, विषाद नहीं। वह सच्चे स्वातंत्र्य को भोगता है। जीवन में सत्य का अनुशासन होने पर वह व्यवहार में जीता हुआ भी संयमित रहता है। संयमित जीवन-चर्या की साधना के लिए सम्यक् क्रियाशीलता की अपेक्षा है। अणुव्रत-आंदोलन जीवन को सम्यक् क्रिया से संजोना चाहता है, व्यक्ति-व्यक्ति के चिंतन को स्वस्थता प्रदान करना चाहता है, ताकि मानव आज की विपथगामिता को छोड़ सुपथगामी बने, अनीति के अनवरत आघातों से जर्जरित उसके जीवन में नीति और न्याय की प्रतिष्ठा हो। उसकी मानवता मुसकरा उठे, उसे चारित्र का सम्पोषण मिले।

अनुकरणीय मार्ग

भारतीय संस्कृति में वही मार्ग अनुकरणीय है, जिस पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म-द्रष्टाओं के चरणचिह्न पड़े। वह मार्ग है आत्म-चेतना और अंतर्-जागृति का। यह वह सरणि है, जिस पर भारतीय परम्परा का इतिहास अवस्थित है। चाहे कैसा भी युग क्यों न हो, इस मूल परम्परा का सर्वथा विलोप भारतीयों में नहीं हो सकता। अलबत्ता उस पर आवरण आ सकता है। जैसा कि आज हो रहा है। इसलिए आज अन्तर्-जागृतिमय संस्कृति के परिवर्तन और परिपोषण के लिए कृतसंकल्प और कृतप्रयत्न होते हुए राष्ट्र की अध्यात्म-परम्परा को आगे बढ़ाने की आवश्यकता है।

अणुव्रत आन्दोलन, जिसकी चर्चा मैंने अभी की, इस दिशा में सतत कार्यरत है। जिस प्रकार घड़े को भरने के लिए बूंद-बूंद महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति का सहयोग इस अभियान के आगे बढ़ने और सफल होने में मूल्यवान् है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६२. विश्व-शान्ति का आधार*

संघर्ष कहां ?

जीवन का सर्व-सुखद पक्ष है—चरित्र। उसकी विकास-भूमि है—क्षमा। उसका परिणाम है—मैत्री। असहिष्णुता से वैर बढ़ता है। वैर चरित्र का विकार है और उससे सुख-शान्ति की रेखा क्षीण हो जाती है। अकेलेपन में क्षमा या अक्षमा की स्थिति नहीं होती। इनका प्रसंग द्वैत में होता है। जहां दो हैं, वहीं संघर्ष है।

संघर्ष के बीज

संघर्ष का हेतु विविधता या भेद है। मनुष्यों में रुचि, विचार और आचार का भेद होता है। चिन्तन की सहज धारा ऐसी होती है कि हमारी भांति ही सब लोग बोलें-चलें, खाएं-पीयें, बैठें-उठें, सोचें-करें, ... । किन्तु रुचि-भेद के कारण ऐसा होता नहीं। यहीं संघर्ष उठ खड़ा होता है। मनुष्य में दूसरों को अपने अधीन करने की वृत्ति है। अपने सुख, भोग और बड़प्पन के लिये दूसरों के सुख, भोग और महत्ता को लूटने की लालसा भी है। ये सब संघर्ष के बीज हैं। शक्तिहीन व्यक्ति इन्हें नहीं बो सकते। शक्तिशाली लोग ही इन्हें बो सकते हैं और जब-कभी इन्हें बो डालते हैं, फल कटुक ही होते हैं।

संघर्ष कैसे टले ?

संघर्ष के परिणाम हैं—चिनगारी, पाप और सर्वनाश। क्रोध के प्रति क्रोध, वैर के प्रति वैर, घृणा के प्रति घृणा और हिंसा के प्रति हिंसा की परम्परा जहां चली, वहां दुर्व्यवस्था का परिसीमन नहीं हुआ।

जिसने अन्तर्दृष्टि से देखा, उसने कहा—संघर्ष टालने की यह पद्धति त्रुटिपूर्ण है। क्रोध को शांति से जीतो। इसी प्रकार अभिमान को नम्रता से, माया को ऋजुता से और लोभ को सन्तोष से जीतो। वैर को मैत्री से और घृणा को प्रेम से जीतो। हिंसा की परिसमाप्ति अहिंसा में ही हो सकती है। मानवीय विचारणा का सर्वोपरि मृदु और मधुर परिपाक शांति है।

*मैत्री-दिवस पर प्रदत्त संदेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मैत्री-दिवस' मनाने का उद्देश्य

आणविक अस्त्रों के परीक्षण चल रहे हैं। शत्रु-वृत्ति में उनके प्रयोग पर भी स्यात् नियंत्रण नहीं रह सकता। यह वर्तमान की स्पर्धा, शास्त्रास्त्रों की होड़ शान्ति के लिये बहुत बड़ा खतरा है। इसे मैत्री के बिना किसी भी प्रकार नहीं टाला जा सकता। शत्रु-भाव में संदेह होता है और यह कृत्रिम दूरी पैदा करता है।

किसी समय विरोधी पक्ष एक साथ बैठना भी नहीं चाहते थे। आज उस स्थिति में परिवर्तन आया है। विरोधी पक्ष एक साथ बैठ समस्या का समाधान ढूंढते हैं, बातचीत के द्वारा स्थिति को सुलझाना चाहते हैं। यह बहुत शुभ है। इस कदम ने बहुत बार होते-होते संघर्ष से विश्व को बचाया है। इस आंशिक सफलता की ओर आगे बढ़ना चाहिये। यही उद्देश्य है—'मैत्री-दिवस' मनाने का।

'मैत्री-दिवस' मनाते समय प्रतिवर्ष तीन बातें अवश्यमेव करणीय हैं—

१. प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र दूसरे व्यक्तियों और राष्ट्रों के लिये अभय की घोषणा करे।

२. दूसरे व्यक्तियों और राष्ट्रों द्वारा अपने या अपने राष्ट्र के लिये कोई भयकारक उपक्रम हुआ हो तो उसके लिये उन्हें क्षमा दे।

३. अपने या अपने राष्ट्र के द्वारा दूसरे व्यक्तियों या राष्ट्रों के लिये कोई भयकारक उपक्रम हुआ हो तो उसके लिये उनसे क्षमा ले।

मैं मानता हूं, इस क्रम से 'मैत्री-दिवस' मनाने का क्रम बराबर चलता रहे तो विश्व-शांति का एक सुदृढ़ आधार बन सकेगा। संसार का छोटा-बड़ा प्रत्येक प्राणी, समाज और राष्ट्र अभय और सुख की सांस ले सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६३. नकद धर्म

आज मानव दिग्मूढ बन रहा है। इस कारण वह परेशान है, भयभीत है, दुःखी है। जंगलों में हिरणों के बडे-बड़े यूथ या झुंड होते हैं। उन यूथों में से कहीं कोई एक मृग बिछुड़ जाता है तो वह बेचारा कभी इधर दौड़ता है, कभी उधर दौड़ता है। कभी इधर देखता है, कभी उधर देखता है। चारों ओर देखता ही रह जाता है। आज का मानव भी उस यूथभ्रष्ट, किंकर्तव्यविमूढ़ मृग की तरह है—**'इतः पश्यति ततः पश्यति सर्वतः पश्यति।'**

आप जानते हैं, आज देश में वक्ताओं की कोई कम नहीं है। कमी है आचरण करने वालों की। आज का दिग्भ्रान्त मानव चौराहे पर खड़ा देखता है—कोई आए और उसे सही मार्ग बताए। पर वह सही मार्ग कैसे दिखा सकता है, जो स्वयं ही गुमराह है। सही मार्ग तो वही दिखा सकता है, जो मार्ग का जानकार हो।

यह कैसा धर्म !

आज नैतिक धर्म का अभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। मानव ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को भुला दिया है। वह एकादशी करना ही धर्म मानता है। आज एकादशी है, अतः व्रत करना है। व्रत में अन्न तो खाना नहीं है, पर दूसरी-दूसरी चीजें तो बहुत हैं। वे चाहे दुगुनी पेट में भर ले। यह है व्रत ! मैं आपसे ही पूछता हूं, यह कैसा व्रत ? कैसा धर्म ? वस्तुतः आज मनुष्य ने बाह्य क्रियाकांडों को ही धर्म मान लिया है। उसने मान लिया है कि उपासना करना ही धर्म है, मन्दिर में जाना ही धर्म है, त्रिवेणी में डुबकी लगाना ही धर्म है। जो साधनमात्र है, उसे साध्य मान लिया है। उसकी दृष्टि में धार्मिकता की कसौटी है हरिजनों को अछूत और नीचा मानना तथा अपने-आप को पवित्र एवं ऊंचा मानना। ऐसा लगता है, जो धर्म जीवन का तत्व था, वह मात्र बाह्य आडम्बरों में रह गया है।

आत्म-उपासना : परमात्म-उपासना

मेरी दृष्टि में आत्मा की उपासना ही धर्म है। परमात्मा की उपासना बहुत ऊंची और अच्छी बात है, पर उसकी उपासना से पहले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा की उपासना और सेवा आवश्यक है। अपने-आपको अच्छे मार्ग पर लगाना महत्वपूर्ण है। बहुत सही तो यह है कि आत्मा की उपासना ही परमात्मा की उपासना है। जिसने आत्मा की उपासना कर ली, उसने अप्रत्यक्ष रूप से परमात्मा की उपासना कर ली। आत्मा ही अपने शुद्ध स्वरूप में परमात्मा है। अपने-आपमें परमात्मा होकर, अनन्त शक्ति का स्रोत होकर भी मानव कल्याण के लिए दूसरों के सामने गिड़गिड़ाए, हाथ फैलाए, यह कहां तक उचित है ? मेरी दृष्टि में यह भयंकर भूल है। मुझे उसकी इस नादानी पर तरस आती है। कबीरजी ने कितना मार्मिक कहा है—

पानी में मीन पियासी।
मोहि सुन-सुन आवे हांसी।
पानी में मीन पियासी॥
आतम ज्ञान बिना नर भटके, कोई मथुरा कोई काशी।
कस्तूरी मृग नाभी माहें, वन-वन फिरे उदासी॥ पानी॥

पानी के अंदर मछली प्यासी है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है। मृग की नाभि में कस्तूरी है और वह उसे जंगल में ढूंढता फिरे, क्या यह हंसने जैसी बात नहीं है। पर उन पर हंसने से क्या, वे तो अज्ञानी हैं, जलचर और पशु हैं। हंसने की बात तो उस मानव की है, जो संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाने का गौरव प्राप्त किए हुए है, जिसके पास सब कुछ है, फिर भी अपने-आपको दीन-हीन मानता है। दूसरों का मुहताज बना फिरता है। जो शान्ति उसके अन्तर् में प्रवाहित है, उसे बाहर ढूंढता घूमता है, भौतिक पदार्थों में खोजता भटकता है।

भगवान कहां है ?

मन्दिर में भगवान को ढूंढने वालों से, तीर्थों में भगवान को खोजने वालों से पूछना चाहूंगा—क्या भगवान मन्दिर में है ? क्या वह चैतन्यप्रभु तीर्थ-स्थानों में है ? बिना उनके उत्तर की अपेक्षा किए ही मैं कहता हूं, नहीं, मन्दिर में कोई भगवान नहीं है, तीर्थ-स्थानों में भगवान होने की बात मतिभ्रम है। अरे ! भगवान तो घट में है। व्यक्ति-व्यक्ति के घट में है। आपके, मेरे और सबके घट में है। अगर सचमुच ही भगवान से साक्षात्कार की तमन्ना है तो आत्म-दर्शन करें। आत्म-दर्शन करते-करते परमात्म-दर्शन स्वयं हो जाएगा। उसके लिए अलग से प्रयत्न करने की कोई अपेक्षा नहीं है।

उधार धर्म: नगद धर्म

धर्म के सन्दर्भ में मेरी अवधारणा बहुत स्पष्ट है। वह आत्मा की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना है। धर्म संसार-समुद्र में गिरते प्राणी को धारण कर रखने वाला तत्व है। आप अपने दिलो-दिमाग में अच्छी तरह से अंकित कर लें कि धन से कभी भी धर्म नहीं होता। धन से सुख-सुविधा के साधन अवश्य उपलब्ध हो सकते हैं, पर धर्म से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। प्रश्न होगा, धन से धर्म नहीं होता तो फिर किससे होता है? धर्म होता है तपस्या से, त्याग से, संयम से। लोग कहते हैं—धर्म इसलिए करना चाहिए कि उससे परलोक सुधरेगा। मैं भी मानता हूं कि धर्म से परलोक सुधरता है, पर साथ ही यह भी मानता हूं कि वर्तमान जीवन को बिगाड़कर परलोक कभी नहीं सुधारा जा सकता। यह निरी भ्रांति है। इसलिए वर्तमान को बिगाड़कर परलोक सुधारने वाला धर्म मेरी दृष्टि में बासी धर्म है, उधार धर्म है। ऐसा तथाकथित धर्म हमारे किस काम का। हमें तो नगद धर्म चाहिए। जब भी उस धर्म की आराधना करें, हमारा सुधार हो, हमें शान्ति की अनुभूति हो, आनन्द की प्राप्ति हो। और वह नकद धर्म है—जीवन में विचार और आचार की पवित्रता। तपस्या, त्याग, संयम और दुष्प्रवृत्तियों से विरति। ऐसे धर्म से परलोक तो सुधरेगा-ही-सुधरेगा। इसमें संदेह करने की कहीं कोई गुंजाइश ही नहीं है।

नगद धर्म का संदेश

मैं देख रहा हूं कि आज का मानव संयम को भूलता जा रहा है। न हाथ का संयम है और न पांव का। न आंख, कान, नाक का संयम है और न खाने-पीने का। न वाणी का संयम और न मन का ही। सार-संक्षेप यह कि वह सब तरह से संयमहीन होता जा रहा है। इस स्थिति में उस पर स्वार्थ प्रभावी हो रहा है। घर की गन्दगी वह पड़ोसी के घर के सामने डाल देता है। वह यह नहीं सोचता, जब गन्दगी से मेरे घर में दुर्गन्ध फैल रही थी तो क्या पड़ोसी के घर में नहीं फैलेगी। उससे पैदा होने वाले मच्छर क्या उसे नहीं काटेंगे। नकद धर्म का संदेश यह है कि अपनी शारीरिक, वाचिक और मानसिक किसी भी प्रवृत्ति से किसी दूसरे का अहित मत करो, उसे कष्ट मत पहुंचाओ। अपने सुख के लिए दूसरे के सुख की होली मत जलाओ। तुम किसी को जिला सको, यह शक्य नहीं, पर उसे मारो तो मत। अपने छोटे-से स्वार्थ के लिए औरों का शोषण मत करो। माया, कपट, प्रवंचना, धोखा, बेईमानी और कुटिलता को आज होशियारी, चतुराई और व्यापार-कला का जामा पहना दिया गया है। पर ये ऐसे दुर्गुण हैं, जो जीवन-सत्व 'को घुण' की तरह खत्म करने वाले हैं। इनसे सलक्ष्य दूर रहते हुए अपनी पवित्रता को सुरक्षित रखो।

अणुव्रत-आन्दोलन नकद धर्म का व्यावहारिक रूप है। वह कहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है—मानव डाक्टर, वकील, अध्यापक कुछ भी बनने से पहले अच्छा मानव बने। व्रत जीवन की पवित्रता का आधार है, इसलिए व्रतों का अभ्यास करे, व्रती बने। आत्मानुशासन करना सीखे। संयम की साधना करे। मैं चाहता हूं, आप इस नकद धर्म को गहराई से समझें और इसे जीवनगत बनाएं। इसी में आपका, समाज का, देश का और पूरी मानव-जाति का हित निहित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६४. सूक्ष्म अहिंसा की समझ जागे

असत् प्रवृत्ति हिंसा है

अहिंसा के संदर्भ में यों तो सभी धर्म-प्रवर्तकों ने अपने-अपने ढंग से चिंतन किया है, पर जैन तीर्थंकरों ने इस बारे में बहुत सूक्ष्मता से विचार किया है। उन्होंने कहा—अहिंसा का सम्बन्ध आत्मा से है। किसी जीव को मारना हिंसा है। पर हिंसा की सीमा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। वह बहुत आगे तक है। कोई जीव न भी मरे, फिर भी जो अपनी असत् प्रवृत्ति है, वह हिंसा है। एक व्यक्ति क्रोध करता है—यह मानसिक हिंसा है। कोई अपने स्थान पर बैठा किसी के प्रति ईर्ष्या करता है, भले उसकी भावना उस तक नहीं पहुंच पाती, फिर भी वह हिंसा है। बुरे चिंतन से अपनी हिंसा तो होती ही है, चाहे दूसरे की हो या न हो।

पर-हत्या : आत्म-हत्या

पर-हत्या—मारना जितना बड़ा पाप है, आत्म-हत्या भी उससे कम नहीं है। पर-हत्या में हत्या का फल व्यक्ति स्वयं ही पाता है, घरवालों की कोई जिम्मेवारी नहीं होती। लेकिन आत्म-हत्या कर मरने वाला स्वयं तो फल पाता ही है, साथ-ही-साथ घर वालों को भी परेशानी उठानी पड़ती है। सरकारी कर्मचारी आकर घर-परिवार वालों को किस प्रकार तंग करते हैं, यह आपसे छुपा नहीं है। आत्म-हत्या करने वाला भले स्वयं अपनी इच्छा से मरता है, पर इतने मात्र से उसे अहिंसा तो नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह कि असत् प्रवृत्ति हिंसा है, चाहे वह अपने लिए हो अथवा दूसरों के लिए।

सूक्ष्म हिंसा के विविध रूप

कोई किसी की तथ्यहीन टीका या आलोचना करता है, यह भी हिंसा है। किसी के विचारों को तोड़-मरोड़ कर रखना, गलत आरोप लगाना वैचारिक हिंसा की कोटि में आता है। किसी के उत्कर्ष को न सहकर उसके प्रति ईर्ष्या का भाव करना, घृणा का प्रचार करना हिंसा है। वध हिंसा का स्थूल रूप है। मानसिक हिंसा और वैचारिक हिंसा सूक्ष्म रूप हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य इस सूक्ष्म हिंसा को समझकर इससे अधिक-से-अधिक बचे। इसके लिए धर्मगुरुओं को सलक्ष्य प्रयत्न करना चाहिए। उनके द्वारा जितना बल अहिंसा के स्थूल रूप पर दिया जाए, उससे अधिक अहिंसा के आन्तरिक और सूक्ष्म रूप पर दिया जाए, क्योंकि आन्तरिक हिंसा में प्रत्यक्ष जीवघात न होने से वह अब तक जन-साधारण के लिए बुद्धिगम्य नहीं हो सकी है। यही कारण है कि आज लोग जितना जीव मारने से घबराते हैं, उतना परस्पर विरोध, ईर्ष्या, क्रोध आदि से नहीं। इस प्रयत्न से जब जन-साधारण में इसकी समझ विकसित हो जाएगी तो उसे व्यवहार्य बनाना उसके लिए कठिन नहीं होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६५. अहिंसा की व्यापकता

हिंसा कभी भी अहिंसा नहीं होती

भगवत्-वाणी है—'तत्थ पढमं अहिंसा, तसथावरसव्वभूयखेमकरी'—अहिंसा सब प्राणियों के लिए क्षेमकरी है, कुशल करने वाली है। वह सर्वव्यापी है। कुछ लोग हिंसा से अहिंसा की रक्षा करने की बात करते हैं। उसमें धर्म बताते हैं। प्रश्न है, हिंसा से अहिंसा की रक्षा करने में धर्म है? इस प्रश्न का समाधान इसकी व्यापकता में निहित है। जिस अहिंसा की रक्षा करने की बात कह जाती है, उसकी तो हिंसा कर पहले ही हत्या कर दी। यहां समझने की बात यह है कि अहिंसा की रक्षा के लिए जिन प्राणियों की हिंसा हुई, उनके लिए अहिंसा अन्ततः क्षेमकरी कैसे हो सकती है। तत्व यह है कि हिंसा अन्ततः हिंसा ही है। भले वह अहिंसा की रक्षा के बहाने हो अथवा किसी अन्य नाम पर।

कर्त्तव्य बनाम अहिंसा

मैं इस वास्तविकता से इनकार नहीं होता कि व्यवहार में व्यक्ति को कर्तव्य-पालन के निमित्त हिंसा करनी पड़ सकती है। वह उसकी एक आवश्यकता है, अनिवार्यता है। पर आवश्यकता-अनिवार्यता होने के उपरान्त भी वह हिंसा ही है। उसे अहिंसा नहीं माना जा सकता।

हमें यह बात अच्छे ढंग से ख्याल में ले लेनी चाहिए कि अहिंसा और कर्तव्य दो अलग-अलग तत्व हैं। कहीं-कहीं दोनों मिल अवश्य जाते हैं, फिर भी दोनों एक नहीं हैं। यानी सभी कर्तव्य अहिंसा नहीं हैं। हां, अहिंसा अवश्य कर्तव्य है। पर कर्तव्यमात्र को धर्म मानना संगत नहीं होगा।

हम देखते हैं, पागल कुत्ते को मारा जाता है, लेकिन पागल मनुष्य को नहीं। क्यों? इसलिए कि मनुष्य के संरक्षक हैं और पागल कुत्ते का कोई संरक्षक नहीं। पर इतना तो स्पष्ट है कि पागल कुत्ते को मारना अहिंसा नहीं है, धर्म नहीं है। यदि उसे मारना अहिंसा है, धर्म है तो फिर पागल मनुष्य को मारना भी अहिंसा कैसे नहीं होगा, धर्म कैसे नहीं होगा।

अहिंसा समदर्शी है। वह पक्षपात से सर्वथा परे है। अर्थात् बड़े

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवों के प्रति मोह नहीं और छोटे जीवों के प्रति उपेक्षा नहीं। वह सर्वजीव-हितकारिणी है। छोटे-बड़े सभी प्राणियों के लिए वह समान रूप से कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है।

सिक्के के दो पहलू

लोक की भाषा में हिंसा और अहिंसा धूप और छांह की तरह एक सिक्के के दो पहलू हैं। जैसे धूप और छांह परस्पर कहीं मिलती नहीं, इसी इसी तरह हिंसा और अहिंसा का भी कभी मिश्रण नहीं हो सकता। दोनों का क्षेत्र बिलकुल भिन्न-भिन्न है। वैसे गुड़ खाने वाला क्या कभी अफीम नहीं खाता? आवश्यकता पड़ने पर खा सकता है। पर इतना अवश्य है कि उसे गुड़ और अफीम दोनों का अलग-अलग ज्ञान होना चाहिए। अज्ञानवश गुड़ के स्थान पर अफीम खाने का क्या परिणाम आता है, यह बहुत स्पष्ट है। उसे मुझे बताने की जरूरत नहीं। उसी प्रकार हिंसा और अहिंसा का ज्ञान होना चाहिए। हिंसा को अहिंसा मानने से वही अनर्थ होता है, जो अफीम को गुड़ मानकर खाने से होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६६. मद्य-निषेध

मद्य-निषेध नैतिकता का एक अंग है। पिछले दिनों जब 'मद्य-निषेध सप्ताह' मनाने का विचार किया गया, तब एक सुझाव आया कि 'मद्य-निषेध सप्ताह' के स्थान पर 'नशाबन्दी सप्ताह' मनाया जाना चाहिए। इसका कारण यह बताया गया कि मद्य-निषेध तो कानूनतः यहां है ही, फिर मद्य-निषेध की क्या आवश्यकता है। सुझाव सुनते ही बात दिमाग से टकराई। सुझाव उपयुक्त लगा। पर थोड़ा गहराई से चिंतन करने पर लगा कि 'मद्य-निषेध सप्ताह' ही उपयुक्त है। हमें यथार्थवादी दृष्टिकोण से काम करना चाहिए। कानून होने के उपरान्त क्या लोग मद्य नहीं पीते? जब यह बिलकुल स्पष्ट है कि पीते हैं, तब फिर 'मद्य-निषेध सप्ताह' मनाने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। होने के लिए तो बम्बई में भी मद्य-निषेध का नियम है। पर इसके उपरान्त भी वहां मद्यपान की प्रवृत्ति चलती है, यह एक तथ्य है। कारण? कारण यह कि राज्याधिकारियों का भय तो रिश्वत से मिट जाता है। दूसरों का भय रहता नहीं। अलबत्ता यहां 'मद्य-निषेध सप्ताह' मनाने का अर्थ कोई यह न समझे कि मद्य-निषेध लागू करने के क्षेत्र में सरकार निष्क्रिय है। सरकार अपने ढंग से काम करती है। फिर भी कानून का उल्लंघन कर लोग छुप-छुपकर पीते हैं, यह एक यथार्थ है। ऐसे लोगों को मद्य छोड़ने की प्रेरणा मिले—यह इस कार्यक्रम को मनाने का उद्देश्य है।

धर्म-स्थान में मद्य-निषेध की चर्चा क्यों?

कुछ लोग इस भाषा में सोचते हैं कि इस धर्म-स्थान में, जहां धूम्र-पान भी नहीं होता, वहां मद्यपान-निषेध की चर्चा करने की क्या सार्थकता है। मद्यपान-निषेध की यह चर्चा तो मद्यपान के अड्डों पर होनी चाहिए। पर इस संदर्भ में मेरा चिन्तन यह है कि धर्म-स्थानों में भी मद्य-निषेध की चर्चा करना आवश्यक है। आज आदर्शों की छाया में पापों का पोषण हो रहा है। धर्म की ओट में खोट चल रही है। धर्म-स्थानों में कई लोग प्रवचन सुनने के बहाने आते हैं और चोरी करते हैं। और तो क्या, जूते-चप्पल तक भी चोरी कर ले जाते हैं। ऐसे व्यक्ति धर्म-स्थानों में आकर स्वयं तो पवित्र नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनते, धर्म-स्थानों को अवश्य अपवित्र बना देते हैं। अतः आपको इस भ्रांति में नहीं रहना चाहिए कि धर्म-स्थानों में आने वाले सभी लोग विशुद्ध प्रवचन सुनने के पवित्र उद्देश्य से आते हैं।

वास्तविकता यह है कि जहां पवित्र उद्देश्य से लोग धर्म-स्थानों में आते हैं, तो ऐसे लोग भी बहुत हैं, जो इससे भिन्न उद्देश्य रखते हैं। आप देखें, प्रवचन समाप्त हो जाने के पश्चात् कई लोग यहां से बाहर निकलते हैं और धूम्रपान करते हैं। इसलिए वातावरण को विशुद्ध बनाए रखने के लिए धर्म-स्थानों में भी मद्य-निषेध, धूम्रपान-वर्जन आदि के बारे में बोलना, चर्चा करना आवश्यक है, उपयोगी है।

विकास की प्रक्रिया

आज देश के नेता लोग विकास की बातें अवश्य करते हैं, पर इस बात पर ध्यान क्यों नहीं देते कि ह्रास को रोके बिना विकास कभी भी सम्भव नहीं है। देश के जन-जीवन में आज अनेक प्रकार की बुराइयां व्याप रही हैं। क्या यह मानव-समाज का ह्रास नहीं है। इस ह्रास को रोके बिना विकास के लिए किया गया कोई भी प्रयत्न या उपक्रम अपनी सार्थकता सिद्ध कैसे कर सकेगा। मकान यदि साफ करना है तो पहले दरवाजों-खिड़कियों को बंद करना होगा, ताकि नई रेत मकान में न आए। इसके पश्चात् मकान के अन्दर की रेत झाड़ू से निकालनी होगी। दरवाजों, खिड़कियों को बंद किए बिना झाड़ू लगाने से उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। यही बात बुराइयों को मिटने के सन्दर्भ में भी है। पहले बुराइयों के आने के मार्ग को रोकना अपेक्षित है। जो पूर्वकृत हैं, उनका प्रायश्चित्त करना आवश्यक है।

मद्यपान के दुष्परिणाम

मद्यपान भी एक बुराई है। बौद्धों के पंचशील में पांचवां शील सुरा-विरमण ही है। इससे ऐसा प्रतिभासित होता है कि बुद्ध के समय मद्यपान एक व्यापक बुराई थी। महाभारत में कहा गया है—सुराज्य वही है, जहां कदर्य, कृपण और मद्यप नहीं हैं। जिस परिवार, समाज, प्रान्त और देश में मद्य पीने वाले लोग अधिक होते हैं, वह परिवार, समाज प्रान्त और देश पतनोन्मुखी होता है।

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—ये पांच प्रमाद माने गए हैं। यहां ध्यान देने की बात यह है कि इनमें मद्य का स्थान प्रथम है। मद्यपान करने से व्यक्ति प्रमादी बन जाता है। और प्रमादी की गति आप जानते ही हैं। उसे पग-पग पर भय सताता है। भगवान महावीर की वाणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कितनी सार्थक है—**'सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अपमत्तस्स नत्थि भयं'** —प्रमादी को सब ओर से भय रहता है, अप्रमादी को किसी ओर से भय नहीं होता।

एक संस्कृत कवि ने कहा है—

चित्तभ्रान्तिः जायते मद्यपानां, चित्ते भ्रान्ते पापचर्यामुपैति ।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढ़ास्तस्मान्मद्यं नैव देयं न पेयम् ।।

मद्यपान से चित्त भ्रांत हो जाता है। भ्रान्तचित्त व्यक्ति स्वभावतः पाप में प्रवृत्त हो जाता है। प्रचुर पाप का अर्जन कर वह मूढ़ दुर्गति को प्राप्त होता है। अतः मद्य न तो व्यक्ति को स्वयं ही पीना चाहिए और न ही दूसरों को पिलाना चाहिए।

मद्यपान करने वाले व्यक्ति की गति आप देखते ही होंगे। भ्रान्तचित्त बन वह बेभान-सा बन जाता है। यहां तक कि वह जहां-तहां सड़क पर गिर पड़ता है। फिर कुत्ते उसके मुंह की सफाई करते हैं। मद्यपान से शरीर, घर और पूरा जीवन बिगड़ता है। मैंने एक गीत में कहा है—

मदिरा-मांस तजो, मदिरा-मांस तजो ।
आर्य कहलाने वाले ! मदिरा-मांस तजो ।
रोज नहाने वाले ! मदिरा-मांस तजो ।
शौर्य दिखाने वाले ! मदिरा-मांस तजो ।।

- **बेहद बदबू नहीं सफाई, छा जाती होठों पर काई ।**
  चेहरे पर है काली झांई, पड़ते तन में छाले ।। मदिरा····
- **होती चारों ओर तबाही, इज्जत पर फिर जाती स्याही ।**
  उनका जीवन स्वयं गवाही, है विवेक पर ताले ।। मदिरा····

ये बिलकुल सीधे-सीधे पद्य हैं। इनका अर्थ आप समझ ही रहे हैं। मुझे विश्लेषित करने की कोई अपेक्षा महसूस नहीं होती। मद्य पीने वाले लोगों के घरों की क्या स्थिति होती है, यह उन बहिनों से पूछिये, जिनके पति पियक्कड़ हैं, शराबी हैं। घर में खाने के लिए भरपेट धान्य नहीं, तन ढांकने को पूरा कपड़ा नहीं, बच्चों की शिक्षा-चिकित्सा की व्यवस्था नहीं, फिर भी उन्हें तो पीने के लिए शाम को बोतल चाहिए, शराब चाहिए। ऐसी हालत में घर की आर्थिक स्थिति कैसे सुधरे। ऐसे में तो हालत और बिगड़ती ही है। मूलभूत बात यह है कि नशा करने वालों का दिमाग संतुलित नहीं रहता। और जब व्यक्ति का दिमाग असंतुलित हो, तब सद्गुणों के प्रवेश करने की बात सोचना ही व्यर्थ है।

विवेक का तकाजा

लोग शराब पीने के समर्थन में विदेशों में शराब पीने के प्रचलन की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात कहते हैं। मैं उनसे कहना चाहता हूं, ठंडे मुल्कों में शरीर का तापमान ठीक बनाए रखने के लिए वह एक क्षेत्रीय आवश्यकता हो सकती है, फिर भी वहां बहुत-सारे ऐसे लोग भी हैं, जो शराब का सेवन नहीं करते। भारतवर्ष तो वैसे भी गर्म जलवायु वाला देश है, इसलिए यहां तो यह तर्क यों ही व्यर्थ है। यहां तो शराब पीना आदत की लाचारी के सिवाय और क्या है। इसलिए व्यक्ति के विवेक का तकाजा यही है कि वह स्वयं तो मद्य से कोसों दूर रहे ही, दूसरों को पिलाने की नासमझी भी कभी न करे। कई लोग ऐसे होते हैं, जो स्वयं तो मद्य नहीं पीते हैं, पर पार्टी आदि में अतिथियों को पिलाते हैं। इसके पीछे उनका तर्क यह होता है कि मद्य आगन्तुओं को बहुत प्रिय है। यदि न पिलाएं तो उनके नाराज होने की पूरी संभावना रहती है। पर मैं इस तर्क में भी तथ्य नहीं देखता। यह तो पिलाने वालों की कमजोरी का द्योतक है। व्यक्ति जिस चीज को स्वयं पीना बुरा मानता है, उसे दूसरों को पिलाना कहां तक उचित है। मैं मानता हूं, यदि वह दूसरों को मद्य न पिलाने का संकल्प करले और उस पर पूर्ण दृढ रहे तो पीने वालों पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

यह कैसी सभ्यता !

कई युवक ऐसा कहते हैं कि हमारी इच्छा तो नहीं है, पर सोसाइटी कुछ ऐसी है कि उसमें सभ्यता के नाते धूम्रपान और मद्यपान करना पड़ता है। मैं नहीं समझता, यह कैसी सभ्यता ! यह तो बिलकुल असभ्यता है। ऐसी झूठी सभ्यता से व्यक्ति को सलक्ष्य बचना चाहिए।

मद्यपान-निषेध के सन्दर्भ में कुछ बातें आपसे कही। आवश्यकता है, इसका व्यापक अभियान चले। व्यापारी, राज्यकर्मचारी, मजदूर सभी वर्गों के लोग स्वयं से शुभ शुरुआत करें। यानी वे इस बात के लिए संकल्पबद्ध हों कि हम न तो स्वयं शराब पीएंगे और न औरों को ही पिलाएंगे। स्वयं के संकल्पबद्ध होने के पश्चात् दूसरों को इस दिशा में प्रेरित करने का मार्ग भी उनके लिए सहज बन जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६७. कार्य ही महत्त्वपूर्ण है

हमें कार्य करना है

अणुव्रत आंदोलन का कार्य कई वर्षों से चल रहा है। मैं अनुभव कर रहा हूं कि यह एक ऐसा कार्य है, जिसे जितना किया जाए, उतना ही बढ़ता जाएगा। कार्यकर्ताओं की कमी हो सकती है, पर कार्य की नहीं। अणुव्रत आन्दोलन का कार्य मानव-निर्माण का है। इस दृष्टि से पूरा मानव-समाज, सारा संसार उसका कार्यक्षेत्र है। और संसार में करोड़ों ही नहीं, अरबों मनुष्य हैं। तब भला काम की कहां कमी। अतः हम सबको सतत कार्य करना है और निश्चित रूप से कार्य करना है।

हजार कार्यकर्ता भी कम हैं

मानव-निर्माण की बात मैंने कही। मानव-निर्माण का तात्पर्य आप समझते ही होंगे—जीवन का परिष्कार। संसार का एक-एक व्यक्ति अनेक बुराइयों से घिरा मिल सकता है। मैं एक बार दूसरे वर्गों की बात दो क्षण के लिए छोड़ता हूं, एक विद्यार्थी-वर्ग को ही लेता हूं। आज इस वर्ग में कितनी-कितनी बुराइयां घर कर गई हैं, अनास्था, उच्छृंखलता और अनुशासनहीनता से विद्यार्थियों का जीवन कितना अस्त-व्यस्त हो रहा है, यह आपसे छुपा नहीं है। आप जानते हैं कि आज के विद्यार्थी ही कल समाज और राष्ट्र के कर्णधार होंगे। इसलिए उन्हें जीवन की सही दिशा पकड़ाना नितान्त आवश्यक है। इस एक वर्ग में ही कार्य की इतनी संभावनाएं हैं कि दो-चार क्या हजार कार्यकर्ता भी काम करें तो कार्य की कोई कमी होने वाली नहीं है।

बहुत-सारे कार्यकर्ताओं की शिकायत रहती है कि हमारी सभाओं में उपस्थिति संतोषप्रद नहीं होती। अभी-अभी मुझे बताया गया कि आजकल विद्यालयों में भर्ती (Admission) हो रही है। अतः सामूहिक रूप में विद्यालयों में काम नहीं चल पाता। पर मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि आप भीड़ को क्यों देखते हैं। कार्य की तरफ ध्यान क्यों नहीं देते। मैं आपसे कहना चाहूंगा कि आप एक-एक छात्र को ढूंढें। ढूंढने से निश्चय ही बहुत बड़ी संख्या में छात्र मिल जाएंगे। स्कूलों में एडमीशन का काम चलता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो चले । हमें इससे क्या । कोई दूसरा काम चलता है तो हमें अपना काम मंद और बंद करने की क्या अपेक्षा है । मुद्दे की बात यह है कि आपको कार्य के परिणाम को नहीं, भावना को मापना है । व्यक्तियों की संख्या को नहीं देखना है, गुणात्मकता को देखना है । बहुत-सारे व्यक्ति न सही, यदि एक प्रधानाध्यापक या प्रिंसिपल को भी इस कार्यक्रम के प्रति आकृष्ट कर इसके साथ जोड़ लेते हैं तो पूरे विद्यालय में आपका काम सुगम और सहज हो जाता है । अतः आपको किसी भी स्थिति में कार्य की गति को मंद नहीं करना है ।

अणुव्रत आंदोलन की मंजिल

अभी-अभी मैं एक सांसद का पत्र पढ रहा था । उन्होंने लिखा है कि भले ऊपर से आपका काम कम दिखाई देता है, पर गुणात्मकता की दृष्टि से वह वास्तव में ही बहुत ठोस है । आपके लखनऊ-प्रवास के बाद वहां कपड़े की अनेक दुकानों पर जाने का अवसर आया । मैंने वहां पाया कि बहुत-सारी दुकानों में भाव-ताव नहीं होता । निर्धारित उचित मूल्यों पर ग्राहकों को माल बेचा जाता है ।'''' इससे मुझे ऐसा अनुमानित हो रहा है कि हमारा काम धीरे-धीरे जड़ पकड़ने लगा है । और इससे भी महत्वपूर्ण बात इस सन्दर्भ में मैं जो मान रहा हूं, वह यह है कि हमारे कार्य के प्रति लोगों में एक विश्वास जम रहा है । यही हमारे आन्दोलन की भूमिका है । पर हमें लोगों की सद्भावना प्राप्त करके ही ठहर नहीं जाना है । यह तो प्राथमिक पड़ाव है । मंजिल तो व्रती बनाने की है । इस लक्ष्य को सामने रखकर ही हमको, आपको कार्य करना है । लोगों को व्रती बनाना है । इस कार्य में जरा भी कमी नहीं आनी चाहिए । मैं मानता हूं, इस यात्रा-पथ पर चरण गतिशील रहे तो सफलता असंदिग्ध है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६८. अणुव्रत की पृष्ठभूमि

अपना कल्याण स्वयं ही करना होगा

शान्ति की मांग कभी न रही हो, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर आज जितनी तीव्र है, उतनी शायद कभी नहीं रही होगी। इसीलिये तो आज जगह-जगह शान्ति-परिषदों की स्थापना हो रही है। मानव बड़ा अशान्त-सा दीख रहा है। उसका कोई त्राण नहीं है। वह किंकर्त्तव्यविमूढ-सा हो रहा है। सोचता है—**'किं करोमि ? क्व यामि ?'**—क्या करूं ? कहां जाऊं ? मानवता **'त्राहि माम्, त्राहि माम्'** की रट लगा रही है। लोग गीता के अग्रोक्त पद्यानुसार भगवान से प्रार्थना करते हैं कि अब आप जल्दी आओ। डूबती हुई मानवता की रक्षा करो। यदि आप आज भी नहीं आओगे तो फिर कब आओगे—

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

मुझे लगता है, यह मनुष्य की बहुत बड़ी कमजोरी है। भला इससे बढ़कर और क्या पौरुषहीनता होगी। आप निश्चित मानें, उसका कल्याण कोई अवतार नहीं करेगा। उसे स्वयं ही अपना कल्याण करना होगा। स्वयं ही अवतार और भगवान बनना होगा। अगर वह अपना यह काम स्वयं नहीं करता है, स्वयं ही भगवान नहीं बनता है तो अवतार भी उसका कुछ नहीं कर सकेगा। केवल अवतारों के गीत गाने से कुछ नहीं होगा। उसे अपना काम स्वयं ही करना होगा। अतः अवतारों से उसे याचना नहीं करनी है। उसे स्वयं अपनी समस्याओं को समझना है और अपने पौरुष से ही उनको सुलझाना है।

मानव मानव बने

नवीन और प्राचीन के झंझट में हम मानवता को कभी विस्मृत न होने दें, यह हमें सदैव ध्यान रखना है। मूलतः तो हमें नवीन और प्राचीन के झंझट में ही नहीं पड़ना है। अच्छी बात चाहे नई हो, चाहे पुरानी, हमें उसे ही स्वीकार करना है। देव बनने की बात को एक बार हम छोड़ दें। मानव मानव बन जाये, पहले यही बहुत है। आप कहेंगे, मानव तो मानव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही है। उसके दो हाथ हैं। दो पैर हैं। मुंह है। नाक है। दिमाग है।..... फिर मानव को मानव क्या बनना है? यही तो खास समझने की बात है। बाहरी चीजें रहते हुए भी मानव आज मानव नहीं है। और वह इसलिए नहीं है कि आज उसमें शोषण है, भ्रष्टाचार है, माया है, द्वेष है, संग्रह करने की भावना है। अतः आज हमारा सबसे प्रथम प्रयास मानव को सच्चे मानव की प्रतिष्ठा दिलाने का होना चाहिए।

धर्मगुरु अपनी जिम्मेवारी समझें

इसके लिये सबसे पहले आज के धर्मगुरुओं को अपने मठों से बाहर निकलना होगा। आत्म-दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में जनता का पथ-प्रदर्शन करना होगा। वह जमाना अब नहीं रह गया कि वे अपने मठों/आश्रमों में बैठकर दूसरों की आलोचना करें और अपने मठों/आश्रमों की दीवारें गिर जायें तो उन्हें बनाने में लगे रहें। आज मानवता की दीवारें ढह रही हैं। उन्हें उनकी रक्षा करनी होगी, उनका पुनर्निर्माण करना होगा। अतः उन्हें इस जिम्मेदारी को संभालने के लिये तैयार हो जाना चाहिये।

सुधार की पहल स्वयं से

जननेताओं से भी एक बात कहना चाहता हूं। वे पहले अपना नेतृत्व करें। अन्यथा उनका नेतृत्व फेल हो जाएगा। उनका कर्त्तव्य है कि वे स्वयं व्यसनमुक्त बनकर अपने-आपको सुधारें, अपने-आपको संभालें। तभी उनकी सुधार की आवाज सफल हो सकती है। कोरे नारों से कुछ नहीं होने वाला है। **'परोपदेशे पाण्डित्यम्'** की बात ठीक नहीं है। स्वयं न सुधरकर सुधार का उपदेश देना अपना उपहास कराना है। वे जब तक अपने-आपको नहीं सुधार लें, तब तक उन्हें दूसरों को उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं है। क्या शराबी को शराब न पीने का उपदेश देना शोभा देता है।

अपनी राह उन्हें स्वयं ही देखनी है। वे ही अपने पथ-प्रदर्शक हैं। वे जब तक संयम और त्याग के पथ पर नहीं बढ़ेंगे, तब तक उनका कल्याण असंभव-सा लगता है। किसी को भ्रान्ति न हो, इसलिए एक बात स्पष्ट कर दूं। संयम का मतलब यह नहीं कि सभी को साधु बनना होगा। यह बात अव्यावहारिक है, इसलिए बनने की नहीं। और बनने की नहीं तो फिर मैं यह कह भी कैसे सकता हूं।

संयम : सुख का मार्ग

संयम तीन प्रकार का है—मन का, वचन का और काया का। संयमी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वही है, जो अपने मन, वचन और काया को असत् प्रवृत्ति से हटा लेता है। किन्तु इस सन्दर्भ में एक बात समझने की है। केवल साधु का वेश पहनने या जंगल में चले जाने मात्र से ही कोई संयमी नहीं बन जाता और न ही गृहस्थ के लिये संयम सर्वथा असंभव है। वस्तुतः संयम का संबंध जंगल और वेश से नहीं है। वह किसी भी स्थान और किसी भी वेश में किया जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि गृहस्थ भी एक सीमा तक संयम की साधना अच्छे ढंग से कर सकता है। और करना ही चाहिए। अन्यथा वह कैसा मनुष्य। अतः जननेता चाहे जहां भी काम करें, उन्हें अपने-अपने क्षेत्र में संयम के पथ पर आगे बढने का लक्ष्य रखना चाहिए। इससे उन्हें एक अप्रतिम सुख का अनुभव होगा। पर ध्यान रहे, यह सुखानुभूति उसे ही हो सकेगी, जो इस लक्ष्य की दिशा में कदम बढाएगा। लक्ष्य बनाकर भी जिसने संयम के पथ पर कदम नहीं बढाये, उसे यह अनुभूति नहीं हो सकती। भला मिठाई का स्वाद वह क्या जान सकेगा, जो मिठाई कभी खाता ही नहीं।

भारत का गौरव

आज का युग भौतिकता का युग है। विज्ञान के भौतिक सुख-सुविधाओं के नये-नये आविष्कारों में तल्लीन व्यक्तियों को संयमी जीवन की अनुभूति मिले भी तो कैसे। आप यह समझने लगे हैं कि सुख अमेरिका और रूस में है, जहां भौतिक साधनों की विपुलता है। पर आप वहां के लोगों के अनुभव भी तो सुनें। दिल्ली और बम्बई के प्रवास में हमने कई विदेशियों से बातें कीं। वे खुद भारत से कुछ पाना चाहते हैं। वे कहते हैं—'इतने-सारे भौतिक साधन होते हुए भी आज हमारे देश में शान्ति नहीं है। अतः हम भारत से सुख और शान्ति का रास्ता पाना चाहते हैं।'..... कैसा आश्चर्य! भारत जैसे स्वल्प भौतिक साधनसंपन्न देश से अमेरिका जैसे विपुल भौतिक साधनसंपन्न देश के लोग सुख और शान्ति का मार्ग जानना चाहते हैं। क्या यह इस बात का पुष्ट प्रमाण नहीं है कि शान्ति और सुख भौतिकता में नहीं, अपितु अध्यात्म में है, संयम में है। चूंकि भारत में अध्यात्मवाद की अधिकाधिक खोज हुई है, इसलिए संसार के विभिन्न भागों से लोग शान्ति की खोज में भारत आते हैं। इस स्थिति में भारतवासियों के लिए यह अत्यंत अपेक्षित है कि वे अपनी मूल पूंजी—अध्यात्म एवं संयम की सुरक्षा पर विशेष ध्यान केन्द्रित करें।

अपेक्षित है आत्म-निरीक्षण

संयम की साधना का मतलब है अपने-आपका निरीक्षण करना। **'किं मे कडं किं च मे किच्च सेसं'**—मैंने क्या किया और क्या करना शेष है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें आपको दिक्कत नहीं पड़ेगी। सारे जीवन, वर्ष या महीने की नहीं, अपितु एक दिन का निरीक्षण करना, प्रतिदिन का निरीक्षण करना कोई भारी नहीं है। आप रोज अपना हिसाब मिलायें कि आज मैंने क्या किया। इससे आपको अपनी भूलों का ज्ञान होगा। पहले दिन जितनी भूलें होंगी, दूसरे दिन संभवतः उतनी नहीं होंगी। तीसरे दिन और कम। इस प्रकार धीरे-धीरे आपका जीवन कंचन बन जायेगा।

सच्चे धार्मिक बनें

आज का जन-जीवन वैसा नहीं है, जैसा होना चाहिये। वैसे कतिपय लोगों का जीवन अच्छा है भी तो उससे बात तो नहीं बनती। इसीलिये अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया गया है। इससे लोगों को एक पथ-प्रदर्शन मिलेगा। यद्यपि हमारा मार्ग तो महाव्रतों की साधना का है, लेकिन सारे-के-सारे महाव्रती बन जायें, यह संभव नहीं। अतः महाव्रती नहीं तो कम-से-कम अणुव्रती तो प्रत्येक व्यक्ति बने ही। सारे-के-सारे ब्रह्मचारी नहीं बन सकते, पर व्यभिचार तो हर कोई छोड़े, यह आवश्यक है। व्यक्ति रोटी को सर्वथा नहीं छोड़ सकता, पर अन्याय की रोटी तो छोड़े। गृहस्थ में रहता हुआ मनुष्य सर्वथा हिंसा नहीं छोड़ सकता, पर वह आततायी तो न बने। अपने संरक्षण के लिये दूसरों का भक्षण तो न करे। इस सीमा तक अहिंसक तो वह बन ही सकता है। बन ही क्यों सकता है, उसे बनना ही चाहिए, बल्कि सलक्ष्य बनना चाहिए।

अणुव्रत व्यक्ति-व्यक्ति को धार्मिकता का सही आधार प्रदान करना चाहता है। वह कहता है, व्यक्ति केवल पूजा-उपासना से नहीं, अपितु अपने आचार, विचार और व्यवहार से धार्मिक बने। यानी वह पूजा-उपासना भले करे या न करे, पर अपने आचार को शुद्ध, विचारों को सात्विक और व्यवहार को प्रामाणिक रखे, यह नितान्त आवश्यक है। बहुत सही तो यह है कि शुद्ध आचार, सात्विक विचार और प्रामाणिक व्यवहार से ही व्यक्ति को प्रभु की पूजा-उपासना करने की सच्ची अर्हता प्राप्त होती है। मैं आशा करता हूं कि आप अणुव्रती बनकर सच्ची धार्मिकता को प्राप्त होंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६९. वर्तमान युग में अणुव्रत की अपेक्षा

धर्म क्या है ?

जरामरणवेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥

यह आर्षवाणी है । इसमें कहा गया है—संसार एक प्रवाह है । जरा, मरण, रोग, शोक, चिन्ता आदि के वश में होकर मनुष्य इस प्रवाह में बहता जा रहा है । इसके साथ बहता हुआ वह न जाने किस अथाह समुद्र में विलुप्त हो जाए । पर उसके लिए एक द्वीप, गति और प्रतिष्ठान है और वह है—धर्म ।

आप पूछेंगे, धर्म क्या है ? क्योंकि 'धर्म' शब्द के बारे में आज अनेक भ्रांतियां हो रही हैं । वह अनेक प्रकार के स्वार्थ-साधनाओं का केन्द्र बन रहा है । पर मैं आपसे जिस धर्म की बात कह रहा हूं, वह बिलकुल निष्पक्ष, निःस्वार्थ और सर्वमान्य है । वह है मनुष्य के अपने सुख के लिए, उसके अपने द्वारा अपना आत्म-नियंत्रण । दूसरों के द्वारा थोपा हुआ नियंत्रण व्यक्ति के लिए भार हो सकता है । इसलिए वह धर्म नहीं है । धर्म का किसी पर भार नहीं होता । इसीलिए अपने द्वारा किया हुआ अपना नियंत्रण ही धर्म है । मैं समझता हूं, इसमें किसी का मतद्वैध नहीं हो सकता ।

सारा संसार संत्रस्त है

आज अनैतिकता, हिंसा और अविश्वास इतना बढ गया है कि मनुष्य उससे संत्रस्त हो गया है । युग ने राजनीति को बढावा दिया, परिग्रह और भोगवृत्ति को बढावा दिया । फलतः बड़प्पन की मिथ्या धारणा को बल मिला । और आज मनुष्य यह सोचने लगा है कि चाहे कितनी भी अनैतिकता क्यों न करनी पड़े, पर वह किसी से पीछे न रह जाए । स्वार्थ के अतिरेक से आज किसी का किसी पर भी विश्वास नहीं रहा है । स्वयं अपने हाथ-पैरों पर भी मनुष्य आज विश्वास नहीं कर सकता । इससे सारा संसार अशांत है । उसे प्रतिक्षण आक्रमण का भय घेरे रहता है । जाने किस क्षण और किस तरह विश्व-युद्ध छिड़ जाए । वास्तव में यह सारा वातावरण कुछेक व्यक्तियों की अपनी ख्याति-लिप्सा का परिणाम है । पर वे यह नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानते कि संसार को मिटाने से कितना बड़ा अनर्थ हो सकता है। राजनीति में संयम नहीं है। उसका लक्ष्य है—जो प्राप्त हो गया, उससे और अधिक प्राप्त किया जाए। वहां किसी दूसरे की सत्ता को हड़पना भी आदेय है, क्षम्य है। राजनयिक अपना एकछत्र शासन चाहते हैं। पर उन्हें यह समझ लेना है कि ऐसा अभी तो होने वाला नहीं है। वासुदेव तथा चक्रवर्ती यदि ऐसा चाहें तो कर भी सकते हैं। पर इस जमाने में वह स्थिति है नहीं। हां, संयमी सारे संसार पर अपना एकछत्र शासन चला सकता है। क्योंकि जिसने अपने मन और इन्द्रियों पर शासन कर लिया है, वह फिर किसी पर अनुशासन करना नहीं चाहता। इसलिए उसके सामने कोई प्रतिस्पर्धा नहीं रहती। इस स्थिति में वह सारे संसार का एकछत्र राजा होता है। कहा गया है—

आशाया ये दासाः, ते दासा सर्वलोकस्य।
आशा दासी येषां, तेषां दासायते लोकः॥

—जो आशा के दास हैं, वे सारे संसार के दास हैं। इसके विपरीत आशा जिनकी दासी है, उनका सारा संसार ही दास है। अतः या तो मुनि संसार का एकछत्र राज्य कर सकते हैं या फिर वासुदेव और चक्रवर्ती। तब फिर अपने-अपने नेतृत्व को आगे लाकर आज सारे संसार को क्यों संत्रस्त किया जा रहा है, यह समझ में नहीं आ रहा है।

भ्रष्टाचार का कसता शिकंजा

आज प्रत्येक व्यक्ति के मुंह से सहसा आहें निकल आती हैं। आह सुख की भी होती है और दुःख की भी। सुख की आह हल्की होती है और दुःख की आह लम्बी होती है। आज तो अधिकतर लम्बी आहें ही निकलती हैं। इससे स्पष्ट है कि आज सारा संसार दुःख-संत्रस्त है। चारों ओर भ्रष्टाचार छाया हुआ रहे तो सुख की अनुभूति रहे भी तो कैसे।

भ्रष्टाचार की यह स्थिति है कि जिनका इसे मिटाने का दायित्व है, वे लोग स्वयं ही भ्रष्ट हो गए हैं, अनैतिक बन गए हैं। यहां तक कि वरिष्ठ नेता भी इस आशय की बात कह देते हैं कि यह उनके हाथ की बात नहीं है। अतः राजनीति को पुनः मुड़कर देखना है। यदि वह ऐसी ही चलती रही तो कल्पना नहीं की जा सकती कि आगे चलकर क्या दशा होगी।

असंयम और प्रकृति

सामाजिक जीवन भी आज अनेक समस्याओं का केन्द्र बन रहा है। किसी जमाने में समाज की कल्पना शायद इसलिए हुई थी कि मनुष्य अकेला शांति से नहीं रह सकता था। अतः उसने परस्पर सहयोग के लक्ष्य से कार्य का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनिमय करके समाज बनाया। पर आज तो समाज कार्य का विनिमय न रहकर स्वार्थ-साधना का अड्डा बन रहा है। इसीलिए आज परस्पर सहयोग की भावना लुप्त हो रही है। उसका स्थान संदेहशीलता ने ले लिया है। आज समाज के लोग एक-दूसरे को संदेहभरी दृष्टि से देखते हैं। इस संदेहशीलता का अगर कोई निराकरण हो सकता है तो मेरी दृष्टि में एकमात्र संयम ही हो सकता है। ऐसा लगता है, असंयम आज अति की सीमा में पहुंच गया है। क्या विद्यार्थी, क्या अध्यापक, क्या मजदूर, क्या महिला, क्या पुरुष, क्या राजनेता, किसी भी वर्ग को क्यों न देखा जाए, उसमें घोर असंयम छाया हुआ है। ऐसा प्रतिभासित होता है कि सारा वातावरण ही असंयममय बन गया है। मनुष्य तो असंयत बना सो बना, पर आज तो प्रकृति भी असंयत जैसी बन गई है। आप रोज समाचार-पत्र पढ़ते हैं। कहीं वर्षा से प्रलय हो रहा है तो कहीं लोग पानी की बूंद-बूंद के लिए तरस रहे हैं। गर्मी भी इस वर्ष क्या कम पड़ी थी। मेरी समझ में प्रकृति के संतुलन में मनुष्य के संतुलन का भी एक सीमा तक प्रभाव पड़ सकता है। आज मनुष्य ने अपना संयम खो दिया है तो प्रकृति भी इस प्रभाव से मुक्त कैसे रह सकती है। अतः उसने भी मानो अपने बंधन तोड़ दिए हैं और वह मनुष्य के संहार की दिशा में अग्रसर हो रही है।

अग्रणी आगे आएं

आज आवश्यकता है कि लोग असंयम के अंधानुकरण से बचें। किसी व्यक्ति ने किसी कारणवश कुछ असंयम कर भी लिया तो दूसरों को उसका अनुकरण करना आवश्यक नहीं है। लोग गतानुगतिक होते हैं। एक बड़ा आदमी कुछ कर लेता है तो दूसरे भी उसका अनुकरण करना चाहेंगे।

प्रसंग महाकवि माघ का

एक बार प्रसिद्ध महाकवि माघ शौचादि से निवृत्त हो नदी के किनारे हाथ धो रहे थे। तभी उनके मन में विचार आया कि कल शौच के लिए तो पुनः मुझे यहां आना ही है और उसके लिए लोटा भी लाना पड़ेगा। इस स्थिति में क्या यह अच्छा नहीं होगा कि मैं आज इसे यहीं-कहीं गाड़ जाऊं। कल इसे निकालकर वापस काम में ले लूंगा। इस चिंतन के साथ उन्होंने उसी समय उस लोटे को गाड़ दिया। आस-पास में कुछ लोग भी बैठे हुए थे। उन्होंने सोचा, माघ मिट्टी खोदकर लोटे को उसमें गाड़ रहे हैं तो जरूर कोई रहस्य है। भला महाकवि माघ जिस कार्य को करते हैं, अवश्य ही वह अच्छा होगा। यह सोच उन्होंने भी अपने-अपने लोटे वहीं आस-पास गाड़ दिए और अपने-अपने घर चले गए। एक गड़रिया वहां खड़ा-खड़ा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह दृश्य देख रहा था। सब लोगों के चले जाने के बाद वह वहां आया और सारे लोटों को निकाल कर चलता बना।

जैसा कि मैंने कहा, जन-सामान्य अनुकरणप्रिय होता है। चूंकि समाज में प्रमुख/अग्रगण्य लोगों का एक सहज प्रभाव होता है, इसलिए वे जैसा आचरण और व्यवहार करते हैं, उसका अनायास अनुकरण होने लगता है। इस परिप्रेक्ष्य में आज यह अत्यंत आवश्यक है कि अग्रगण्य आगे आएं और युग को नया मोड़ दें। शिविरों के आयोजन का भी यही उद्देश्य रहता है कि कुछ लोग स्वस्थ जीवन-शैली को जीते हुए दूसरों का पथ-दर्शन करें। मैं मानता हूं कि इस नए मोड़ में अणुव्रतियों को अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग करना होगा। उन्हें चालू ढर्रे को छोड़ना होगा। एक अपेक्षा से यह कांटों का मार्ग है। वे ही व्यक्ति इस पथ पर आ सकेंगे, जो कष्ट सहन करने की हिम्मत रखते हैं। आप को ख्याल रहना चाहिए कि जो चीज कष्ट से प्राप्त की जाती है, वह स्थित रहती है। कहा भी गया है—**'कष्टेनासादितो वित्तं, आपत्तौ नैव नश्यति।'**—जो चीज कष्ट से प्राप्त की जाती है, वह कष्ट के समय भी काम आती है। इसके विपरीत जो चीज सीधी प्राप्त हो जाती है, वह कष्ट के समय नष्ट हो जाती है। जो व्यक्ति परिश्रम से धन कमाता है, वह उसके मूल्य को समझता है। अतः वह उसका दुरुपयोग नहीं करेगा। पर जो व्यक्ति सट्टे में कमाता है, उसका धन प्रायः यों ही चला जाता है। इसलिए जो आनन्द सुख-सुविधाओं को छोड़ने से मिलता है, उसे हमें लेना है। यही अहिंसा का मार्ग है।

कार्यकर्ताओं की जीवन-दिशा

कार्यकर्ताओं पर दोहरी जिम्मेवारी है। पहले वे स्वयं सुधरें और फिर दूसरे लोगों को सुधारने की चेष्टा करें। उनमें बड़प्पन की भूख नहीं होनी चाहिए। वे आज के राजनेताओं की तरह पदलिप्सु न बनें। दलबंदी से भी वे सलक्ष्य बचें। एक वाक्य में कहा जाए तो संयमी, श्रद्धालु और तपोनिष्ठ कार्यकर्ता ही युग को मोड़ दे सकते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि इस प्रकार कार्य होने वाला नहीं है। पर मैं निराश नहीं हूं। आज की परिस्थिति को हमारे कार्य की भूख है और हम लोग कार्य करने को तैयार हैं, तब फिर कार्य होगा क्यों नहीं। कार्यकर्ताओं से भी कहना चाहता हूं कि निराशा/हताशा को वे कभी अपने पास ही फटकने न दें। बस, दृढ-निष्ठा, मजबूत संकल्प और निष्काम भाव से कार्य करते रहें। निश्चित ही उन्हें बहुत तोष मिलेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक हजार अणुव्रती चाहिए

इस वर्ष उत्तरप्रदेश में अणुव्रत आंदोलन को एक नई गति मिल रही है। बहुत-से अच्छे-अच्छे लोग आंदोलन के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं। ऐसा लगता है—यहां बहुत काम होने वाला है। इस अवसर पर मैं अपना एक संकल्प व्यक्त करना चाहता हूं। अक्टूबर में यहां अणुव्रत-आंदोलन का नवां वार्षिक अधिवेशन होने वाला है। उस समय तक मुझे उत्तरप्रदेश में कम-से-कम एक हजार अणुव्रती मिलने चाहिए। इसमें कार्यकर्ताओं का सहयोग बहुत अपेक्षित है। मुझे आशा है कि समागत कार्यकर्त्ता मेरी इस बात पर ध्यान देंगे। यद्यपि हमें संख्या से मोह नहीं है, पर यदि हजार अणुव्रती हमें मिल जाते हैं तो आवाज में एक बड़ी ताकत आ जाती है। आशा है, मेरी मांग का सकारात्मक उत्तर मिलेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७०. संयम की साधना : परिस्थिति का अन्त

मैं परिस्थिवाद का विरोधी हूं

आज के लोगों का परिस्थितिवाद की ओर सहज झुकाव है। लोग आते हैं, नैतिक-विकास की बातें चलती हैं। तब पहले-पहल लगभग यह स्वर सुनने को मिलता है—'परिस्थितियां सुधरे बिना नैतिक विकास कैसे हो?' मैं उनसे कहता हूं—'इसका अर्थ यह हुआ कि परिस्थितियां सुधर जाएंगी, अनैतिकता बरतने की आवश्यकता नहीं होगी, तब आप नैतिक विकास करना चाहेंगे।'

मैं इस परिस्थितिवाद का घोर विरोधी हूं। सारे दांत गिर जाने पर सुपारी न खाने और मृत्यु-शय्या पर सोकर ब्रह्मचारी बनने की बातें जैसे हास्यास्पद हैं, वैसे ही परिस्थितियां अनुकूल होने पर नैतिक विकास करने की बात भी हास्यास्पद है।

चर्चा आगे बढ़ती है। वे अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं, मैं अपना अनुभव देता हूं। आप स्वयं सोचें कि दोनों में कौन अधिक वास्तविक है? तर्क कोरा बुद्धि का व्यायाम है। वह आप भी कर सकते हैं और मैं भी कर सकता हूं। पर अनुभव सत्य का निचोड़ है। मेरा अनुभव है कि परिस्थितियों के सामने घुटने टेकने वाला गिरता है और उनसे लड़ने वाला उठता है, आगे बढ़ता है।

कैसी-कैसी परिस्थितियां!

जैन मुनि के जीवन का मतलब ही है—परिस्थितियों से लड़ते रहना। मैं एक जैन मुनि हूं। मेरे पूर्वाचार्य ने मुझे अपना दायित्व सौंपा, उसे भी वहन कर रहा हूं। इसलिए परिस्थितियां मेरे सामने और अधिक विकट बनकर आती हैं। जीवन की व्यक्तिगत बातों और पारिपार्श्विक उतार-चढ़ावों को दो क्षण के लिए जाने भी दूं, अणुव्रत-आन्दोलन भी मेरे सामने एक परिस्थित रहता है।

आज से दस वर्ष पहले की बात है—मैंने सोचा—जो तत्त्व हमें मिला है, वह सबके लिए हितकर है। संयम की साधना से हमें आनन्द मिला, शांति मिली। दूसरे लोग भी इसकी साधना करें तो उन्हें आनन्द क्यों नहीं मिलेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शांति क्यों नहीं प्राप्त होगी। लोग आनन्द चाहते हैं, शान्ति की प्यास है। सम्भव है, उन्हें मार्ग न मिल रहा हो। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं, जो जान-बूझकर बुराई करें और अशान्ति पाते रहें। किंतु सब लोग तो ऐसे नहीं हैं। कुछ लोग बुराई को बुराई समझ लें तो उसे छोड़ भी सकते हैं। अच्छा हो, हमारा अनुभव लोगों तक पहुंचे। पर पहुंचे कैसे? जीवन भर पद-यात्रा का व्रत, वाहन-प्रयोग का निषेध। आखिर हमने इसका समाधान ढूंढा कि लोग हमारे पास पहुंचें और हम उन तक पहुंचें। आपस में विचार-विनिमय करें। उनके अनुभव लें और अपने अनुभव दें। कुछ लोग प्रेरणा पा मेरे पास आने लगे। प्रतिकूल परिस्थिति का ज्वार आया। कुछ लोगों ने इस आशय की टिप्पणियां शुरू कीं—'आचार्यजी के भक्त सेठों ने थैलियों का मुंह खोल रखा है। उसके बल पर बड़े-बड़े आदमियों को लाया जा रहा है और उनसे प्रशस्तियां लिखवाकर या बुलवाकर महत्वाकांक्षाएं पूरी की जा रही हैं।'

हम मौन रहे। उन तथ्यहीन आलोचनाओं को पीते रहे। अलबत्ता इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रमुख-प्रमुख व्यक्तियों से मिलना और उनके मनोभावों को जानना हमारा लक्ष्य था। बात रही आने-जाने की। हम रहे पदयात्री। हमारे लिए दुनिया की दूरी आज भी वही है, जो पहले थी, जबकि गृहस्थों के लिए इस वैज्ञानिक युग में दुनिया बहुत छोटी हो गई है। हमारी अशक्यता को ध्यान में रख यदि प्रमुख व्यक्ति हमारे पास आते तो वह कौन-सा दोष था! हमारे अनुभव उनको भाते तो प्रशंसा भी करते। उसका सम्बन्ध उनकी मनोवृत्ति से था या हमसे?

प्रारम्भिक स्थिति का अध्ययन कर हमने अणुव्रत-आंदोलन शुरू किया। उस समय उसके इतने व्यापक रूप की कल्पना हमारे दिमाग में नहीं थी। हमारा चिंतन था—'चलो, बिलकुल न होने की अपेक्षा थोड़ा-बहुत जो कुछ भी हो, वह अच्छा है।'

अणुव्रत का द्वार सबके लिए खुला था। यह भी एक परिस्थिति बन गई। कुछ मेरे ही अनुयायी इसका विरोध करने लगे। उनका विरोध-सूत्र यह बना कि आचार्यजी जैन और अजैन सबको अणुव्रती बना रहे हैं, स्पृश्य और अस्पृश्य को एक धागे में पिरो रहे हैं। हम उसे भी सुनते रहे। थोड़ा समय बीता। हमारे साधु भी लोगों के पास पहुंचने लगे। उसका भी विरोध हुआ। एक व्यक्ति ने मुझसे कहा—'हमारे साधु घर-घर जाते हैं, इससे उनकी गरिमा पर आंच आती है।' मैंने उससे कहा—'हमारे पूज्य आचार्य भिक्षु स्वामी ने दुकान-दुकान पर साधुओं को भेजा था। मैं उसे आदर्श मानकर चलता हूं।'

किसी ने कहा—'कुआं प्यासे के पास नहीं जाता है, प्यासा कुएं के पास आता है।' मैंने कहा—'कभी यह भी हुआ होगा। पर आज तो कुएं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी प्यासों के पास जाते हैं। देखो, घर-घर में नल लगे हुए हैं।'

दुतरफा विरोध

अणुव्रत का कार्य आगे बढा। जन-साधारण ने इसे आवश्यक माना तो हमारी शक्ति इस ओर अधिक लगी। इसने एक नया ऊहापोह खड़ा किया। हमारे जैन भाई कहने लगे—'आचार्यजी जैन बनने पर बल नहीं देते। उन्होंने तेरापंथ के प्रचार की गति शिथिल कर दी।.....' मैंने कहा—'जैन, बौद्ध, वैदिक आदि सम्प्रदाय हैं। धर्म है अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। मैं धर्म के मौलिक स्वरूप के प्रति जन-मानस में आस्था भरना चाहता हूं। क्या अहिंसा के सिवाय जैन धर्म का कोई अस्तित्व है। अहिंसा का प्रसार क्या जैन-धर्म और तेरापंथ का प्रचार नहीं है। अहिंसा और जैनधर्म के द्वैत के चिंतन को मैं मानस की संकीर्णता मानता हूं।' एक ओर यह अन्दर का विरोध था तो दूसरी ओर इसका उल्टा प्रवाह चला। अजैन क्षेत्रों में यह चर्चा तीव्र होने लगी कि आचार्यजी अणुव्रत-आंदोलन के जरिए सबको जैन बनना चाहते हैं। यह आंदोलन साम्प्रदायिक है।... हम दोनों स्थितियों को आश्चर्य एवं तटस्थ भाव से पढते रहे। कुछ लोगों ने यह प्रचार किया —'आचार्यजी को प्रशंसा की भूख जाग गई है। वे अणुव्रत-आंदोलन के बहाने अपना सिक्का जमाना चाहते हैं।' इसे भी हम सुनते रहे।

कुछ लोगों का सुझाव आया कि यह आंदोलन बहुत आवश्यक है। इसका प्रचार सतत और तीव्र गति से होना चाहिए। मैंने सोचा, यह नैतिकता का आंदोलन है, इसलिए इसका मार्ग-दर्शन मैं ही करूं तो अच्छा रहेगा। पर यह भी निर्विवाद नहीं रह सका। चर्चा चली कि यह गृहस्थों का पंथ है, इसका नेतृत्व आचार्यजी कैसे कर सकते हैं। साधुओं को ऐसी प्रवृत्तियों से निर्लिप्त रहना चाहिए। मैंने इस स्थिति को भी संभाला। लोगों को समझाया कि मैं असंयम का नेतृत्व नहीं कर रहा हूं। संयम का नेतृत्व यदि साधु लोग नहीं करेंगे तो क्या राजनयिक करेंगे। वे नियंत्रण कर सकते हैं, पर संयम के प्रेरक नहीं बन सकते। संयम की प्रेरणा वे ही दे सकते हैं, जो स्वयं संयत हों। छोटों के दिल में भ्रांति का बीज बड़ों के असंयम ने ही तो बोया है।

सारे संसार को नैतिक बना देंगे ?

अणुव्रत-आंदोलन के कार्य ने गति पकड़ी। छुटपुट प्रश्न स्वयं धुल गए। चर्चा का स्तर कुछ बदला। चिंतनशील व्यक्तियों ने कहा—'भगवान महावीर हुए, महात्मा बुद्ध हुए, महात्मा गांधी हुए। वे भी पूरे विश्व को नैतिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं बना सकें, तब फिर क्या आप उसे नैतिक बना देंगे ?' मैंने कहा—'मैं कब दावा करता हूं कि समूचे विश्व को नैतिक बना दूंगा। नैतिकता की लौ किसी-न-किसी रूप में जलती रहे—मेरा प्रयास इतना ही है। अनैतिकता नैतिकता को निगल जाए—वह दिन विश्व को कभी न देखना पड़े।'

व्यवस्था-परिवर्तन : हृदय-परिवर्तन

अहिंसा का घोष हजारों वर्षों से होता रहा है, तथापि हिंसा का साम्राज्य आज भी ज्यों-का-त्यों है। हिंसा के कारणों को मिटाए बिना अहिंसा सफल नहीं हो सकती। इस विचार ने भी हमारे चिंतन को आगे बढ़ाया। हमें लगा कि आज का मानस हर वस्तु को भौतिकता की कसौटी पर कसता है। जो तत्त्व सामाजिक सुख-सुविधा न दे सकें, वह अनुपयोगी माना जाता है। अहिंसा के द्वारा जीवन की आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं, इसलिए वह अनुपयोगी है। चिंतन की यह रेखा भूल के बिन्दुओं से बनी है और बनती जा रही है। व्यवस्था और अहिंसा के परिणामों को एक तुला से तोलना अपने-आप में बड़ी भूल है। व्यवस्था का परिवर्तन शक्ति या सत्ता से हो सकता है—यह समाजवाद का मूल है। हृदय का परिवर्तन अहिंसा से ही होता है। इसका मूल व्यक्ति है। एक साथ सबको मनवाने की बात अहिंसा के क्षेत्र में नहीं है। मूल सुधार की पद्धति यही है कि व्यवस्था को व्यवस्था की दृष्टि से और अहिंसा को अहिंसा की दृष्टि से देखा जाये।

जड़ की बात

कुछ गंभीर चिंतन के स्रोत से ऐसा उच्छ्वास मिला कि अणुव्रत-आंदोलन जड़ की बात नहीं करता, वह केवल ऊपर-ऊपर को छूता है। हमने चिंतन किया, जड़ की बात फिर क्या है ? क्या आर्थिक स्थिति का सुधार ही जड़ की बात है ? हिंसा के सामने अहिंसात्मक भावना का वातावरण पैदा करना क्या जड़ की बात नहीं है ?..... जीवन की सुविधा हो, वैसी सुविधा से मेरा विरोध नहीं है। पर आर्थिक व्यवस्था का सुधार ही अहिंसा का मूल है—इस विचार से मैं सहमत नहीं हूं। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्र आज कितने अशांत और उलझे हुए हैं, यह मुझे बताने की जरूरत नहीं। भारत की स्थिति उनसे सर्वथा भिन्न है। यद्यपि वह अर्थ-व्यवस्था का संतुलित समाधान नहीं पा सका है।

अनाक्रमण, शांति और अपने अधिकार-क्षेत्र में संतुष्ट रहने का जो भारतीय-मानस का चिंतन है, वह अहिंसा की चिरकालीन परम्परा का ही तो परिणाम है।

समाज के मुखिया यदि सामूहिक हित की व्यवस्था और अहिंसा में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्वास रखने वाले संयम के माध्यम से समाज को बदलना चाहें तो वैयक्तिक स्वार्थ और रक्त-क्रांति दोनों प्रयोजनशून्य बन जाते हैं।

परिस्थिति पर विजय का मंत्र

मेरी धारणा में परिस्थिति का अनुगमन समाज की मानसिक दुर्बलता का रेखाचित्र है। एक के बाद दूसरी या एक प्रकार के बाद दूसरे प्रकार में परिस्थिति रहेगी ही। उसके अंत की कल्पना के चरण में नैतिकता की रेखा न ढूंढें। उसका मूल संयम में है। संयम के विकास का मतलब है परिस्थिति पर विजय। मैं फिर साफ कर दूं कि परिस्थिति के आवश्यक संशोधन में मुझे कोई आपत्ति नहीं है, पर उसके प्रभाव से मुक्ति तभी संभव है, जब व्यक्ति में उसे जीतने की क्षमता उत्पन्न होगी। अणुव्रत-आंदोलन का लक्ष्य यही है। आप अपना चिंतन बदलें, फिर परिस्थिति के दास आप नहीं होंगे, उसे स्वयं आपकी अधीनता मान्य होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७१. अणुव्रत समाज-व्यवस्था

अणुव्रत का कार्य व्यापक है

एक दृष्टि से अणुव्रत की अपनी कोई अलग समाज-व्यवस्था नहीं है। वह तो आज जो समाज-व्यवस्था है, उसमें ही शोधन चाहता है। वह यदि शोधित हो जाती है तो अपने-आप वह अणुव्रत से अविपरीत हो जायेगी। आप जानते हैं, अणुव्रत तो एक नैतिक आचरण-प्रधान आन्दोलन है। अतः उसमें एक किसान भी आ सकता है, एक मजदूर भी आ सकता है और एक व्यापारी भी आ सकता है। एक स्वर्णकार भी आ सकता है और एक चर्मकार भी आ सकता है। एक राज्यकर्मचारी भी आ सकता है और एक नेता भी आ सकता है। अणुव्रती बनने का मतलब यह नहीं कि व्यक्ति अपना काम-धंधा छोड़ दे। अणुव्रती बनने का मतलब तो यह है कि वह चाहे कोई भी काम क्यों न करे, वह अणुव्रत-भावना के विपरीत नहीं होना चाहिए। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति पर नैतिकता की छाप होनी चाहिए, जिससे कि दूसरे व्यक्ति भी उससे प्रेरणा पा सकें। इसलिए अणुव्रत का कार्य एक व्यापक कार्य है। वह किसी समाज-विशेष में सीमित नहीं हो सकता और इसीलिए अणुव्रत की अपनी कोई स्वतंत्र समाज-व्यवस्था नहीं है। जो व्यक्ति अणुव्रती बनता है, वह सदा इस वाक्य को सामने रखता है—**'जागरह णरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी'**—मानव हमेशा जागृत रहे। जो जागृत रहता है, उसकी बुद्धि बढ़ती है। इस दृष्टि से अणुव्रत-भावना जागृत मनुष्य में ही प्रवेश पा सकती है। पर वह यदि केवल एक, दो, पांच, दस व्यक्तियों में ही रहे तो व्यक्तिवादी ही रहा। आज तो हम समाज की बात कर रहे हैं। एक-एक व्यक्ति से लेकर वह सारे समाज में व्याप्त बने—यह आज अत्यन्त आवश्यक है।

दो प्रकार की समाज-व्यवस्था

समाज-व्यवस्था की पृष्ठभूमि में दो बातें विशेष विचारणीय हैं। वहां या तो दण्ड काम करता है या प्रेम। हमें यह सोचना है कि इन दोनों में से हमें कौन-सी समाज-व्यवस्था अभीष्ट है? दण्ड पर आधारित समाज-व्यवस्था में यद्यपि व्यवस्था बनती है, पर उसके साथ-साथ भय, संदेह और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलगाव भी पलते रहते हैं। प्रेमपरक समाज-व्यवस्था में ऐसा नहीं होगा। उसमें भय के स्थान पर अभय, संदेह के स्थान पर विश्वास और अलगाव के स्थान पर निकटता का वास होगा।

प्रेमपरक समाज-व्यवस्था में अल्पमत और बहुमत का भी झगड़ा नहीं रहेगा। वहां कोई भी कानून ६० प्रतिशत और ४० प्रतिशत मतों के हिसाब से स्वीकृत नहीं होगा। वहां जो कुछ होगा, वह शत-प्रतिशत मतों से ही स्वीकृत होगा। वास्तव में अल्पमत और बहुमत—यह एक झगड़ा है। बहुधा बहुमत से कोई बिल पास तो हो जाता है। पर अल्पमत वाले हमेशा इस प्रयत्न में रहते हैं कि जैसे-तैसे उसे असफल बनाया जाये। वे लोग हमेशा इस ताक में रहते हैं कि किसी तरह से सत्तारूढ दल को परास्त किया जाए। इससे आपस में संदेह बढता है और फिर अलगाव होता चला जाता है। पर अहिंसक समाज-व्यवस्था में ऐसा नहीं होगा। वहां तो सब लोग जैसा उचित समझेंगे, वैसा कानून बना लेंगे और फिर सारे ही उसका पालन करेंगे।

संदर्भ तेरापंथ का

इस संबंध में एक प्रश्न प्रायः आया करता है—क्या ऐसी व्यवस्था संभव है? उत्तर में मैं आपको तेरापंथ संघ का उदाहरण देना चाहता हूं। वहां आज भी किसी विषय पर वोट नहीं लिये जाते। इसका मतलब यह नहीं कि किसी सदस्य को चिन्तन करने का अधिकार ही नहीं है। हर सदस्य को चिंतन का उन्मुक्त अधिकार है। सभी अपने-अपने ढंग से चिन्तन कर सकते हैं। पर वे केवल अपने विचारों को ही महत्व नहीं देते, बल्कि अपने-अपने विचार आचार्य के सामने रख देते हैं। आचार्य सब के विचार सुनते हैं और अन्त में जैसा उचित समझते हैं, वैसा निर्णय दे देते हैं। यद्यपि सदस्यों में आपस में विचार-भेद हो सकता है, पर निर्णय में द्वैध नहीं होता। आचार्य ने जो कुछ कह दिया, वह सबके लिए समान रूप से मान्य होता है। पर यह तो एक साधक-समाजविशेष की बात है। साधारण जन-समाज में ऐसा होना संभव नहीं लगता। अतः विवश होकर वहां वोटिंग करानी पड़ती है। पर जो कुछ हो रहा है, उसका फल भी तो लोगों को ही भोगना पड़ रहा है। इसीसे तो अहिंसक समाज-व्यवस्था या अणुव्रत समाज-व्यवस्था की परिकल्पना लोगों के सामने आ रही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७२. अणुव्रत-आन्दोलन का संदेश

मानव-जीवन की परिभाषा

मानव-जीवन क्या है ? यह विषय सदा से चर्चित रहा है। क्या हाड़-मांस का पुतला मानव-जीवन है ? नहीं, केवल हाड़-मांस के पुतले को मानव-जीवन नहीं माना जा सकता। फिर मानव-जीवन किसे कहा जाए ? ज्ञान, श्रद्धा, भक्ति और शांति इन चार तत्वों से मिलकर मानव-जीवन बनता है, मानव मानव बनता है। जब तक उसका जीवन इन चार तत्वों या गुणों से संपन्न नहीं बनता, तब तक वह सही अर्थ में मानव कहलाने के योग्य नहीं होता। मैं आपसे ही पूछना चाहता हूं, इन गुणों से विपन्न मनुष्य और पशु में क्या फर्क है ? बड़े खेद की बात है कि आज मानव मानव नहीं रह गया है। उसे मानव बनना है। इसके लिए आवश्यक है कि वह अपने सही स्वरूप को समझे। कहीं वह शेर के बच्चे का शरीर धारण करने पर भी भेड़िया न बन जाए। उसके जीवन का मूलभूत उद्देश्य भौतिक सुख-सुविधाओं के साधनों को प्राप्त करना और भोग-विलास में लिप्त रहना नहीं, अपितु त्याग व संयममय जीवन में रमण करना है।

मैं सबसे पहले मानव हूं

मैं जैन-तत्वों में विश्वास करता हूं, जैन-साधना-पद्धति के आधार पर साधना करता हूं। पर यह मेरी व्यक्तिगत साधना का प्रश्न है। वैसे सबसे पहले मैं एक मानव हूं। उसके बाद धार्मिक हूं। तत्पश्चात् जैन और अन्त में तेरापंथी हूं। अतः मेरा सबसे पहला विश्वास मानवता में है। इसीलिए अणुव्रत-आंदोलन के माध्यम से मैं मानवता के निर्माण का कार्य कर रहा हूं। मेरी दृष्टि में मानवता में कोई भेद नहीं होता। वह मेरे, आपके, सबके लिए समान रूप से ग्राह्य होनी चाहिए। अणुव्रत-आंदोलन के व्रतों में आपको एक भी व्रत ऐसा नहीं मिलेगा, जो मानवता के सामान्य सिद्धांतों से परे हो। इसीलिए वह किसी धर्मविशेष का नहीं है। और चूंकि वह किसी धर्मविशेष का नहीं है, इसलिए सभी धर्मों का है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुव्रत-आन्दोलन का अभिप्रेत

अणुव्रत-आंदोलन का लक्ष्य है—मानव के आध्यात्मिक पक्ष को सबल बनाना। उसके आत्मगुणों को विकसित करना, संयम की चेतना जगाना। हम देख रहे हैं कि आज सभी क्षेत्रों में विकार घुस आए हैं। वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं रहा है। अणुव्रत-आन्दोलन किसी क्षेत्र या पक्ष को मिटाना नहीं चाहता। उसका तो अभिप्रेत यह है कि प्रत्येक क्षेत्र विशुद्ध बने, प्रत्येक पक्ष बुराइयों से मुक्त बने। कभी लोग साधु-संतों के पास आने में संकोच किया करते थे। क्यों? उनके मन में यह आशंका रहती थी कि वहां जाएंगे तो वे साधु बनने को कहेंगे। हालांकि साधु बनना, संयम की साधना करना व्यक्ति के परम सौभाग्य का सूचक है, पर मैं इस वास्तविकता से अपरिचित नहीं हूं कि साधु कोई-कोई व्यक्ति ही बन सकता है। अधिकांश आदमी नहीं बन सकते। ऐसी स्थिति में सबके साधु बनने की बात अव्यवहार्य है। मैं ऐसी अव्यावहारिक बात नहीं करना चाहता। पर इतना अवश्य कहना चाहता हूं कि आप जहां है, जिस क्षेत्र में हैं, वहां रहते हुए भी मानवीय गुणों का विकास करें, जीवन को संयम और व्रत से अधिकाधिक भावित करें। यही अणुव्रत-आन्दोलन का आपको संदेश है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७३. अणुव्रत-आंदोलन और कार्यकर्ताओं की कार्यदिशा

सफलता का सूत्र

आज मैं अणुव्रत-कार्यकर्ताओं के बीच बैठा हूं। मुझे अणुव्रत-आंदोलन के सन्दर्भ में आपसे एक-दो बातें कहनी है। पहली बात है—अणुव्रत-कार्यक्रम के प्रति कार्यकर्ताओं के मन में यह निष्ठा होनी चाहिए कि यह एक रचनात्मक कार्यक्रम है और इसके द्वारा हम जीवन-विशुद्धि का एक बहुत महत्वपूर्ण काम कर सकेंगे। कार्यकर्ताओं के मन में जब तक यह आशंका रहेगी कि हम काम तो कर रहे हैं, पर पता नहीं सफल होंगे या नहीं, तब तक काम होने वाला नहीं है। आगमों में कहा गया है—**'वितिगिच्छ-समावन्नेणं अप्पाणेणं णो लभति समाधि'**—संशयशील प्राणी समाधि—आत्मशांति को नहीं पा सकता। भला जो अपने-आपमें ही समाधिस्थ नहीं है, वह दूसरों का क्या कल्याण कर सकेगा। सचमुच किसी भी क्षेत्र में सफलता-प्राप्ति का यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण सूत्र है। निःसंशय होकर कार्य करने वाला ही सफलता का वरण कर सकता है। अतः सबसे पहले कार्यकर्ताओं को स्वयं को निःसंशय बनाना है। इसे मैं मूल भित्ति या जड़ मानता हूं। यह होगा, तभी वे आगे बढ़ सकेंगे, लक्ष्य तक पहुंच सकेंगे।

सबसे बड़ा बुनियादी कार्य

हमें इस बात पर गहराई से ध्यान देना है कि आखिर अशुद्धि कहां है? बुराई कहां है? वह सड़कों और बाजारों में तो है नहीं। उसका एक मात्र आवास मानव-मन है, मानव-जीवन है। उसे अगर हमें विशुद्ध करना है तो हमें व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय तक पहुंचना पड़ेगा। इसके बिना सुधार संभव नहीं है। उसकी बात करना ही बेमानी है। भले आप बड़ी-बड़ी योजनाएं बना लें, पर अन्ततः उनका आधार तो व्यक्ति ही रहेगा। अतः उसे सुधारे बिना कोई भी सुधार संभव नहीं है। भले कुछ लोग हमारे इस कार्य को कोई बुनियादी कार्य न मानें, पर मैं नहीं समझता, मानव-निर्माण या दूसरे शब्दों में जीवन-निर्माण से बढ़कर और कोई बुनियादी कार्य क्या हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिस्थिति-बदलाव और हृदय-परिवर्तन

लोग यह आशंका भी कर सकते हैं कि परिस्थितियों के सुधरे बिना, समाज का वातावरण शुद्ध हुए बिना आखिर व्यक्ति का सुधार कैसे संभव होगा ? इस बात को मैं एक सीमा तक सही भी मानता हूं और एक सीमा तक सही नहीं भी मानता। सही तो इस अर्थ में कि सभी व्यक्तियों में परिस्थितियों से मुकाबला करने, लड़ने की क्षमता नहीं होती। पर परिस्थितियां अनुकूल न बनें, समाज का वातावरण न सुधरे, तब तक हम व्यक्ति की नीतिनिष्ठा एवं चारित्रिक उज्ज्वलता की प्रतीक्षा करते रहें, यह भी उचित नहीं लगता। परिस्थितियों को अनुकूल बनाने और सामाजिक वातावरण को सुधारने की ओर बहुत-सारे लोगों का ध्यान केन्द्रित हुआ है और वे इस दिशा में कार्य करने की दृष्टि से सक्रिय भी बन रहे हैं। ऐसी स्थिति में हम अपने व्यक्ति-सुधार के कार्यक्रम को बंद क्यों करें। वे अपना काम करते हैं, हमें अपना काम करना चाहिए। और यह कार्य-विभाजन आवश्यक भी है, क्योंकि एक ही व्यक्ति या वर्ग सारे कार्य नहीं कर सकता। सबके अपने-अपने कार्य-क्षेत्र होते हैं। हमारा कार्य-क्षेत्र हृदय-परिवर्तन का है, मानव-निर्माण का है, जीवन-निर्माण का है। अतः जब तक परिस्थितियां अनुकूल बनें, समाजिक वातावरण सुधरे, तब तक हम अपने कार्य को स्थगित नहीं कर सकते। हमने सुचिन्तित रूप से जो कार्य अपने हाथ में लिया है, उसे हमें पूरा करना है। हमारा यह दृढ विश्वास होना चाहिए कि व्रत के सहारे भी एक बहुत बड़ी क्रांति हो सकती है।

कार्यकर्ता का स्थान

दूसरी बात मैं आपसे यह कहना चाहता हूं कि कार्य कार्यकर्ताओं के बिना नहीं हो सकता। हालांकि कार्य-सम्पादन में दूसरी-दूसरी बातें भी आवश्यक रहती हैं, पर मैं सर्वाधिक महत्व कार्यकर्ताओं को ही देता हूं। यह महत्व ठीक उसी प्रकार का है, जिस प्रकार का अन्नोत्पादन में बीजों का है। यद्यपि अन्न-उत्पादन में हवा, पानी, धूप, मिट्टी, किसान आदि सभी तत्वों की अपेक्षा होती है। वैसे विज्ञान ने आज इतनी तरक्की की है कि उसर भूमि को भी खाद के द्वारा उपजाऊ बनाया जा सकता है। अन्य कृत्रिम साधनों से भी काम चलाया जा सकता है, पर बीज के बिना काम नहीं चल सकता। तात्पर्य यह है कि खेती में सबसे महत्वपूर्ण बीज है। यही बात कार्यसंसिद्धि में है। कार्यकर्ताओं के बिना कोई भी कार्य संभव नहीं है। यदि कार्यकर्ता पूरे तन-मन से जुड़ जाते हैं तो सफलता असंदिग्ध है, सुनिश्चित है। अतः मैं आप लोगों से भी कहना चाहूंगा कि कुछ कार्यकर्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस कार्य को आगे बढाने के लिए विशेष रूप से आगे आएं और तन-मन से इसमें जुट जाएं।

अणुव्रत : एक कठिन यात्रा

आपको यह ध्यान में रहना चाहिए कि अणुव्रत-आंदोलन अपने शैशव को पार कर चुका है। वैसे शैशव बड़ी मुश्किल से निकलता है। माताएं जानती हैं कि बच्चे का पालन कितनी मुश्किल से होता है। पर अणुव्रत-आंदोलन ने बिना बहुत अधिक कठिनाई का सामना किए शैशव पार कर लिया है। इसके साथ ही मैं ऐसा भी नहीं मानता कि उसने कोई बहुत बड़ी सफलता प्राप्त की है। वैसे इसका जैसा कार्य है, उसका अंकन करना सहज बात नहीं है। यदि इसमें कोई अर्थ-संग्रह की बात होती तो सफलता का कुछ अंकन हो सकता था। पर यह तो व्यक्ति-व्यक्ति के विचार और आचार को मांजने का कार्यक्रम है, जीवन को परिष्कृत बनाने का उपक्रम है। स्पष्ट है, यह एक कठिन यात्रा है। मैं मानता हूं, आज जितने भी आंदोलन चल रहे हैं, उनमें अणुव्रत-आंदोलन इस अपेक्षा से सबसे कठिन है। दूसरे-दूसरे आंदोलनों या कार्यक्रमों में सदस्य बनने, कुछ अर्थ-दान करने या समय देने से ही काम चल जाता है, पर इस कार्यक्रम में तो व्यक्ति को अपने-आपको बदलना पड़ता है, अपने असद् विचारों एवं बुरी आदतों को छोड़ना होता है। उदाहरणार्थ अभी किसी व्यक्ति को दस-बीस रुपये देने की बात कही जाए तो संभवतः वह उसके लिए तैयार हो जाएगा। हालांकि बहुत-सारे व्यक्तियों के लिए रुपया देना भी मुश्किल होता है। पर उससे भी बहुत मुश्किल है, अपनी एक दुष्प्रवृत्ति को त्यागना, अपनी आदत को बदलना। और जब एक गलत आदत को छोड़ना, एक वृत्ति को बदलना भी इतना मुश्किल है, तब जीवन का आमूलचूल परिवर्तन करना कितना मुश्किल है, इसकी कल्पना आप स्वयं कर सकते हैं। यह स्थिति उन लोगों की इस शिकायत का समाधान है कि अब तक अणुव्रत-आन्दोलन का प्रसार कम हो पाया है। आगे भी यह कार्यक्रम बहुत तेज गति से चलेगा, ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता। पर इसके उपरान्त भी हमारे लिए निराशा की कोई बात नहीं है। हमें अपना प्रयास पूरी निष्ठा के साथ करना है। फल की ओर हम नहीं देखते। हमारा काम कर्तव्य करना है। उससे हमें विमुख नहीं होना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७४. अहिंसक समाज-व्यवस्था

आज सर्वत्र अशान्ति का बोलबाला है। अतः सभी को इस बिन्दु पर गंभीरता से सोचना है कि इसका मूल कारण क्या है ? यह इसलिए कि जैसा मूल में होगा, वैसा ही ऊपर आयेगा। अशान्ति आज ऊपर आ रही है। इसलिए जरूर इसके मूल में कुछ है। अतः हमें मूल को ही खोजना है। जब तक उसे नहीं पकड़ा जाएगा, तब तक अशान्ति मिट नहीं सकती। अशान्ति की जड़ है—हिंसा। जड़ में जब हिंसा है, दुर्भावना है, द्वेष है, तब ऊपर अहिंसा, सद्भावना और प्रेम कैसे आ सकता है। अतः शान्ति यदि अभिप्रेत है तो अहिंसा को अपनाना पड़ेगा और इसीलिए अहिंसक समाज की कल्पना सामने आती है।

व्यक्ति और समाज

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि अहिंसा का प्रयोगस्थल व्यक्ति ही है। यदि व्यक्ति अहिंसक बन सकता है तो समाज या राष्ट्र भी अहिंसक क्यों नहीं बन सकते। समाज और राष्ट्र आखिर व्यक्ति से अलग तो कुछ हैं ही नहीं। अतः व्यक्ति को अहिंसक बनाने के साथ-साथ उसके व्यापक रूप यानी समाज को भी अहिंसा की भावना से अनुप्राणित करना होगा। तब ही शान्ति का मार्ग मिल सकेगा। पर हमें अहिंसा की अतिकल्पना में भी नहीं जाना है, क्योंकि उससे बहुलांशतः निराशा ही हाथ लगती है। सारा समाज अहिंसक बन जाये—यह न तो कभी संभव हुआ है और न आज है भी। यद्यपि समाज में द्वेष, मद, मोह, लोभ रहें, यह आवश्यक नहीं है, पर जब तक संसार में प्राणी रहेंगे, तब तक उनका सर्वथा उन्मूलन होना असंभव ही है। इसलिए हमें वैसी ही कल्पना करनी चाहिए, जो संभव हो। इस दृष्टि से हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि हम सारे संसार को सुधार ही देंगे।

दृष्टिकोण सही हो

हम यह मानकर चलते हैं कि प्रयत्न किया जाये तो कुछ अहिंसक बन सकते हैं। पर वह कुछ भी नाकुछ जैसा ही है। सम्पूर्ण अहिंसक तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत ही थोड़े लोग बन सकेंगे। अतः हम इस कल्पना को भी छोड़ दें। बस, सबसे पहले एक काम करें और वह यह कि आज जन-जन के मन में जो अतिभोग, अति-परिग्रह तथा अतिहिंसा के भाव आ गये हैं, उन्हें मिटाने का प्रयत्न करें।

आज जीवन का साध्य ही गलत हो गया है। अधिकतर लोगों ने भोग और परिग्रह को ही अपना साध्य मान लिया है। यह सच है कि हिंसा और परिग्रह के बिना एक गृहस्थ का जीवन चल नहीं सकता। ठीक उसी तरह जिस तरह बिना पटरी के इंजन नहीं चल सकता। लेकिन वह साध्य नहीं हो सकता। अतः सबसे पहले अपने दृष्टिकोण को ठीक करने की आवश्यकता है।

एक व्यक्ति ने वार्तालाप के प्रसंग में कहा—'जीवन के लिए जो आवश्यक कार्य हैं, मैं उन्हें अहिंसा ही मानता हूं।' फिर उसने गीता का उदाहरण दिया। बोला—'गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को लड़ने के लिए प्रेरित किया है। वह यदि हिंसा होती तो श्रीकृष्ण ऐसा कैसे कहते।' मैंने कहा—'है तो वह हिंसा ही। हां, यह जरूर है कि वह हिंसा उस समय आवश्यक हो गई थी। उसके बिना वहां दूसरा कोई चारा नहीं था। अन्यायियों और दुष्टों को दबाने के लिए उन्होंने अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित किया था। पर हिंसा अहिंसा कैसे हो सकती है।' आज भी हमें इसी प्रश्न को पहले लेना है। आज जीवन का लक्ष्य ही गलत हो गया है। लोग किसी प्रकार से रुपये कमाना ही अपना लक्ष्य मानने लगे हैं। पर मेरी दृष्टि में यह सर्वथा गलत दृष्टिकोण है। हमें इसे बदलना होगा। अहिंसक समाज-रचना का यही पहला कदम होगा।

अहिंसक समाज के चार मानदण्ड

जैसा कि मैंने प्रारंभ में कहा, वर्तमान अशान्ति की जड़ हिंसा है। वही विविधमुखी होकर अनेक मार्गों से बाहर निकल आती है। उसके मुख्य चार कारण हैं—

(१) ममत्व।
(२) इच्छाओं का विस्तार।
(३) साम्प्रदायिक आग्रह।
(४) बड़प्पन की स्पर्धा।

मेरा विश्वास है, यदि ये चारों कारण मिट जाते हैं तो अहिंसक समाज की परिकल्पना स्वयं सामने आ जाएगी। इस दृष्टि से अहिंसक समाज के भी चार मानदण्ड होंगे—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) सर्व प्राणियों में अपनत्व की भावना।

(२) इच्छा-परिमाण।

(३) साम्प्रदायिक अनाग्रह।

(४) बड़प्पन की भावना का अन्त।

ये चार बातें यदि समाज में आ जाती हैं तो समाज स्वयं अहिंसा के मार्ग पर चल पड़ेगा।

यद्यपि आरम्भ और परिग्रह को एक गृहस्थ सर्वथा नहीं छोड़ सकता। पर वह महारम्भ और महापरिग्रह को तो छोड़े। गृहस्थ के पास यदि कुछ भी न रहे तो वह सुखी नहीं रह सकता और ज्यादा हो जाये तो भी सुखी नहीं रह सकता। उसका मार्ग मध्यम मार्ग है। उसके पास कुछ हो, यह मेरी भाषा नहीं है। मेरा इष्ट है—उसकी भावना अल्पारम्भ की ओर रहे। उसमें संकोच और नियंत्रण रहे। इससे व्यक्ति भी संकट में नहीं आता और समाज का काम भी अच्छे ढंग से चल जाता है। इसके विपरीत एक व्यक्ति महा-परिग्रह की ओर मुड़ता है तो स्वभावतः अन्य व्यक्तियों का शोषण तो होगा ही। यदि एक व्यक्ति दस व्यक्तियों की रसोई अकेला समेट ले तो शेष नौ व्यक्तियों को तो भूखा रहना ही पड़ेगा।

समविभाग

तेरापंथ संघ में यह मर्यादा है कि यदि दस प्याले पानी के आयें और दस साधु ही पानी पीने वाले हैं तो हर साधु एक-एक प्याला पानी पीकर रह जायेगा। दूसरों के विभाग का पानी पीने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। यदि कोई साधु इस मर्यादा का उल्लंघन कर देता है तो उसे कड़ा प्रायश्चित्त आता है। एक बार ऐसा ही हुआ। पानी कम मिला था और पीनेवाले साधु ज्यादा थे। अतः अग्रगण्य साधु ने निदेश दिया कि सब साधु पानी माप-मापकर पीयें। परन्तु एक साधु ने अग्रगण्य के उपरोक्त निदेश का अतिक्रमण कर बिना मापे ही पानी पी लिया। अग्रगण्य ने अपने दायित्व पर ध्यान देकर उससे पूछा—'पानी बिना मापे कैसे पीया?' उसने लापरवाही से उत्तर दिया—'प्यास लगी थी, इसलिए पी लिया।' अग्रगण्य ने कहा—'पर प्यास तो सभी को लगी थी। तुमने दूसरों के हिस्से का पानी कैसे पीया?' उससे इसका न तो कोई उत्तर देते बना और न ही उसने अपनी भूल ही स्वीकार की। फलतः उसे संघ से पृथक् कर दिया गया।

हां, तो मैं कह रहा था कि एक व्यक्ति यदि महापरिग्रही होता है तो परोक्षतः वह दूसरों का शोषक तो हो ही जाता है। अतः अहिंसक समाज में महापरिग्रही व्यक्ति को स्थान नहीं मिल सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संघर्ष का मूल

मजदूर चाहते हैं—हमें काम तो थोड़ा करना पड़े और वेतन अधिक मिल जाये। मिल-मालिक चाहते हैं—मजदूरों से काम तो ज्यादा लिया जाये और वेतन कम दिया जाये। बोनस भी जहां तक बन सके, नहीं दी जाए। इसी से दोनों परस्पर विरोधी आक्षेप लगाते हैं। हड़तालें होती हैं। आखिर वैमनस्य बढ़ जाता है और दोनों को ही हानि उठानी पड़ती है। वे तो लड़ते हैं सो लड़ते ही हैं, देश का भी बहुत नुकशान होता है। जनता भी बीच में पिस जाती है। इस प्रकार लाभ किसी का नहीं होता और खाइयां चौड़ी होती जाती हैं।

अहिंसक समाज का आधार

आज प्रत्येक व्यक्ति अधिक-से-अधिक परिग्रह के संग्रह में जुटा हुआ है। इस परिस्थिति में अहिंसा की वृत्ति पनपे भी तो कैसे। जब लोगों की परिग्रह-संग्रह की वृत्ति मिटेगी, तब ही सुलस जैसी अहिंसक वृत्ति उनके हृदय में जागेगी। सुलस एक कसाई का पुत्र था। उसका पिता प्रतिदिन पांच सौ भैंसे मारा करता था। अतः उसका बचपन अत्यन्त हिंसक वातावरण में गुजरा। पर इसके उपरान्त भी हिंसा से उसे बड़ी घृणा थी। इसीलिए वह किसी प्राणी का वध नहीं करना चाहता था। पिता का अंतिम समय निकट आया तो उसने सुलस को बुलाया और पूछा—'पुत्र! क्या तुम मेरी एक बात मानोगे?' सुलस बोला—'पिताश्री! इसमें पूछने की क्या बात है।' पिता बोला—'तो ठीक है, मेरी मृत्यु के बाद गृहपति का उत्तरदायित्व तुम्हें संभालना होगा।' सुलस ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

पिता की मृत्यु के बाद एक दिन पारिवारिक जन एवं सगे-सम्बन्धी एकत्रित हुए और उसे गृहपति का भार संभलाने लगे। गृहपति का भार संभालने की रस्म के अनुसार सुलस को एक भैंसे का वध करना आवश्यक था। पर वह ऐसा कर नहीं सकता था। ऐसी स्थिति में वहां एक विचित्र-ही दृश्य उपस्थित हो गया। पारिवारिक जनों एवं सम्बन्धियों द्वारा उस पर बार-बार दबाव डाला जा रहा था। पर वह भैंसे का वध न करने के अपने निश्चय पर मेरु की तरह अटल था। अन्ततः पिता की आज्ञा का तर्क दिया गया। पारिवारिक और सम्बन्धी बोले—'तुम्हें पिता की आज्ञा तो माननी ही पड़ेगी और उसके लिए आज तलवार चलानी आवश्यक है। तुम उससे बच नहीं सकते।' उसने उन्हें बहुत समझाया, पर उनमें से कोई भी उसकी बात मानने को तैयार नहीं हुआ। आखिर सुलस को एक उपाय सूझा। उसने पूछा—'क्या आज मुझे तलवार चलाना आवश्यक ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ?' सबने एक स्वर में कहा—'हां।' बस, सुलस ने तलवार अपने हाथ में ली और उससे अपने पैर पर प्रहार करने को तत्पर हुआ। पारिवारिक जनों ने 'यह क्या कर रहे हो ?' कहते हुए तत्काल उसका हाथ पकड़ा। सुलस बोला—'आप मुझे रोक क्यों रहे हैं ? आप तो कह रहे थे कि आज तुम्हें तलवार चलाना आवश्यक है। अतः मैं आपकी आज्ञा का पालन ही तो कर रहा हूं। तलवार के प्रहार से जितनी पीड़ा मुझे होगी, उससे कम पीड़ा भैंसे को भी नहीं होगी। अतः भैंसे पर चलाने की अपेक्षा मैं अपने पैर पर ही क्यों न प्रयोग करूं।' यह सुन सब निरुत्तर हो गये और बोले—'तुम चाहो सो करो, पर अपने पैर पर तलवार मत चलाओ। हम तुम्हें बिना तलवार चलाये ही गृहपति का पद देते हैं।' इस प्रकार बिना किसी का वध किए उसे गृहपति का पद मिल गया।

यह है अहिंसक समाज की कल्पना का आधार। व्यक्ति-व्यक्ति यदि आज ऐसी वृत्ति अपना ले तो अपने-आप अहिंसक समाज बन जायेगा। अति अहिंसा की बात हम जाने दें। बस, यदि कोई अनावश्यक हिंसा और दूसरों पर आक्रमण भी न करे तो बहुत है। यही अणुव्रत-मार्ग है। अणुव्रती बनने का अर्थ ही यह है कि वह अपना सुख लेगा, पर दूसरों को दुःख नहीं देगा। वह अपना पेट भरेगा, पर दूसरों की रोटी नहीं छीनेगा। ऐसी परिस्थिति का जब निर्माण हो जायगा तो स्वयं ही अहिंसाप्रधान या अहिंसक समाज-व्यवस्था की परिकल्पना साकार रूप ले लेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७६. अणुव्रत सार्वजनीन है

पांच अणुव्रत

अणुव्रत अर्थात् छोटे-छोटे व्रत। संख्या में वे पांच हैं। पहला अणुव्रत है—अहिंसा। माना आप देश के जवाबदार हैं, इसलिए पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकते, देश पर आक्रमण होने पर आक्रांताओं को सहन नहीं कर सकते। किन्तु उसे अहिंसा और धर्म तो न मानें। किसी दूसरे पर आक्रान्ता तो न बनें। किसी के साथ विश्वासघात तो न करें।

दूसरा अणुव्रत है—सत्य। सत्य जीवन का सारभूत तत्व है। इस बात को यों कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि सत्य ही जीवन है। यदि जीवन में से सत्य निकाल लिया जाये तो शेष सब शून्य हैं। मैं मानता हूं, अज्ञानवश आपसे साधारणतया झूठ-प्रयोग हो भी सकता है, पर ऐसा झूठ तो न बोलें, जिससे दूसरों का बहुत बड़ा अहित हो जाए। व्यापारी दूकान पर बैठकर झूठा तौल-माप तो न करें।

तीसरा अणुव्रत है—अचौर्य। उसका मतलब है बिना पूछे किसी की कोई चीज न लेना। पर आप इसे पूरा निभा नहीं सकेंगे। चलते ही कहीं से तिनका उठा लेते हैं, किसी के खेत में से खूंटा उखाड़ लेते हैं।..... यद्यपि आदतन तो यह भी नहीं होना चाहिये, पर इससे बचना अगर संभव न हो तो कम-से-कम ऐसी चोरी तो न करें, जिससे आपका पतन हो, आपके समाज का पतन हो, देश का भी पतन हो। दूसरे-दूसरे देशों में आपके देश की निंदा हो।

अधिक ब्याज लेने को भी मैं एक प्रकार की चोरी मानता हूं। कहने को कोई कहेगा कि इसमें हम कोई किसी की चोरी थोड़े ही करते हैं। वह हमें खुशी-खुशी ब्याज देता है, तब हम लेते हैं। पर भाइयो! मैं आपसे ही पूछना चाहता हूं, भोले-भाले प्राणियों की मजबूरी का लाभ उठाकर उन्हें चूसना, चोरी नहीं तो और क्या है? क्या अधिक सूदखोरी को आप धर्म का कार्य कहेंगे? आप इस बात को समझें कि अधिक सूदखोरी चोरी का ही एक प्रकार है। इसी तरह अधिक मुनाफाखोरी की वृत्ति भी एक प्रकार की चोरी ही है।

इसी क्रम में चौथा अणुव्रत है—ब्रह्मचर्य। अब्रह्मचर्य कीचड़ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप उससे सम्पूर्ण रूप से नहीं बच सकें तो कम-से-कम महीने में बीस दिन तो ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करें।

पांचवां अणुव्रत अपरिग्रह है। अर्थ को सब प्रकार के अनर्थों की जड़ माना गया है। यद्यपि वह स्वयं अपने-आपमें जड़ है, पर इस पर जो ममत्व, मूर्च्छा और संग्रह की भावना है, वह पाप है। साधु इसे सर्वथा त्याग देते हैं, पर लोगों ने तो अपने को इससे चिपका लिया है। वे मानने लगे हैं कि धन ही उनका जीवन है। वे कहते हैं, धन नहीं हो तो शादी में जो पच्चास-पच्चास हजार, लाख-लाख रुपये लगते हैं, वे कहां से आयें? अतः उन्हें संग्रह करना पड़ता है। और जहां संग्रह लक्ष्य बन जाता है, वहां अर्थार्जन में जायज-नाजायज का विवेक नहीं रह सकता। वहां शोषण भी चलता है, रिश्वत भी चलती है, अन्यान्य अनेक अवांछनीय बातें भी चलती हैं।

चुनावों की विकृतियां

चुनावों की धांधली भी आज कम नहीं है। हालांकि ईमानदार आदमी हैं ही नहीं, यह बात नहीं है। पर वे बहुत थोड़े हैं, यह बिलकुल स्पष्ट है। पैसे के बिना सीट कैसे मिले। अतः इस सीट के लिये पैसे को पानी की तरह बहना पड़ता है। वोट बटोरने के लिये न जाने कितने-कितने घृणित साधन काम में लिये जाते हैं। यहां तक कि ग्रामीणों को शराब पिला-पिलाकर मत लिये जाते हैं। यश की भूख तो मानो मनुष्य को पागल ही बना देती है। धन्य है उस भूख को, जिसके लिये मनुष्य को स्व-प्रशंसा और पर-निन्दा के अखाड़े में उतरना पड़ता है! पार्टी का मोह भी तो कम नहीं होता। अपनी पार्टी की टांग ऊंची रखने के लिए तरह-तरह के गलत हथकंडे अपनाए जाते हैं।

पार्टीबाजी गन्दगी है

यह कितने खेद की बात है कि इस पार्टीबाजी में लोग हमें भी घसीटने का प्रयास करते हैं। कुछ लोग कहते हैं—'महाराज तो कांग्रेस के पक्ष में हैं, उसकी ही प्रशंसा करते हैं।' कई लोग कहते हैं—'ये हिन्दुओं का विरोध करते हैं।'..... पर भाइयो! यह सब गलत है। यदि धर्म में राजनीति और पार्टीबाजी आ जायेगी, तब तो फिर बचा ही कौन रहेगा। हम तो पार्टीबाजी को गन्दगी मानते हैं। उसमें हाथ डालना ही पाप है। हमारे लिये सब समान हैं। यहां पर हरिजन-महाजन में कोई भेद नहीं है। हिन्दू-मुसलमान में कोई फर्क नहीं है। यहां का दरवाजा तो हर एक के लिये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खुला है। जिसके पिपासा हो, वह खुशी से यहां आकर अपनी प्यास बुझा सकता है।

अणुव्रती की जीवन-शैली

अणुव्रती का खान-पान शुद्ध होगा। उसकी वृत्ति में सादगी होगी। वाणी में संयम की पुट होगी। वह हमेशा अपना आत्मदर्शन करेगा। उदाहरण के लिये वह किसी पर क्रोध करने से बचेगा। यदि किसी दिन क्रोध आ जाये तो शाम को वह अपना आत्मालोचन करेगा कि आज उसने क्रोध क्यों किया? इस प्रकार के निरन्तर चिन्तन से उसमें क्षमा का भाव क्रमशः पुष्ट होगा और उसके जीवन में रूपांतरण घटित होने लगेगा।

अणुव्रती किसी की आलोचना नहीं करेगा। इसीलिये हमने अणुव्रती की आचार-संहिता में एक नियम रखा है— मैं सब धर्मों के प्रति तितिक्षा के भाव रखूंगा। अणुव्रती बौद्ध, वैदिक, जैन..... किसी पर कटाक्ष नहीं करेगा।

अणुव्रत सबका है

वास्तव में अणुव्रत जीवन का मार्गदर्शन करता है। अभी यह शैशवकाल में है, इसलिए इसकी आचार-संहिता को अन्तिम रूप नहीं दिया गया है। और भी कोई अच्छे सुझाव आयेंगे तो हम उनका स्वागत करेंगे। अणुव्रत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह एक व्यापक तत्व है। इतना व्यापक कि किसी भी वर्ग, देश या जाति का व्यक्ति इससे अपने जीवन का निर्माण कर सकता है। पुरुषों की तरह ही बहनें भी इसमें सम्मिलित हो सकती हैं। वास्तव में तो देश की अच्छी उन्नति उन्हीं के हाथ में है। जब तक बहनों में जागृति नहीं आयेगी, उनका सुधार नहीं होगा, तब तक देश का सुधार होना संभव नहीं है। अणुव्रत किसी सम्प्रदायविशेष का नहीं है। इसीलिए वह सभी का है। इसमें सब धर्मों के तत्वों का सार है। अतः आशा है, सभी संप्रदायों के लोग इसमें सहयोग देंगे। वह सहयोग हमारा नहीं है, बल्कि मानवता का सहयोग है। इसमें कोई छोटे-बड़े का सवाल नहीं है। हर कोई दे सकता है। वस्तुतः छोटा और बड़ा है ही क्या! पूंजी से कोई बड़ा थोड़े ही होता है। बड़ा वही है, जिसका जीवन त्यागमय है। छोटा वही है, जिसका जीवन गया-गुजरा है। अतः मैं आप सब लोगों से कहना चाहूंगा कि आप इस त्याग के महान् उपक्रम को आगे बढ़ाने में सहयोग दें, अपनी संभागिता जोड़ें। इससे आपका जीवन तो सार्थक होगा ही, समाज और राष्ट्र का भी बहुत बड़ा हित होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७६. अणुव्रत : एक विज्ञान

एक ओर कहा जाता है—आवश्यकता आविष्कार की जननी है। दूसरी ओर कहा जाता है—आवश्यकताओं का अल्पीकरण करो। दोनों बातें एक-दूसरी से सर्वथा विपरीत हैं। एक का मुंह पूर्व की ओर है तो दूसरी का पश्चिम की ओर। गणित की भाषा में कहा जाए तो ३६ की संख्या है।

विज्ञान सुख-सुविधा के लिए आविष्कार पर आविष्कार प्रस्तुत कर रहा है। उपग्रह आकाश का चक्कर लगा रहा है। मनुष्य दिन-प्रतिदिन विलासी बन रहा है।

दूसरी ओर अणुव्रत-आन्दोलन कहता है—अपना संयम करो। उसका उद्घोष है—**'संयमः खलु जीवनम्'**—संयम ही जीवन है।

किसी को भ्रांति न हो इसलिए स्पष्ट कर देता हूं कि अणुव्रत-आन्दोलन का विज्ञान के साथ विरोध नहीं है। बहुत गहरे में तो वह स्वयं एक विज्ञान है। विज्ञान यानी जीवन का विशिष्ट ज्ञान—आरोहण की सही दिशा। अणुव्रत-आन्दोलन का सिद्धांत है—आवश्यकताओं का जितना अल्पीकरण होगा, जीवन उतना ही स्वस्थ, शान्त एवं सुखमय बनेगा। मेरा विश्वास है, यदि मनुष्य शान्ति चाहता है तो उसे इस पथ में आना होगा। प्रश्न उठता है, मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी नहीं होंगी तो वह नैतिक कैसे बनेगा? इस प्रश्न का प्रतिप्रश्न यह भी तो है, क्या आवश्यकताओं की पूर्ति होने मात्र से मनुष्य सहज नैतिक बन जाएगा? स्पष्ट है, यह तो कम संभव है। अनावश्यकताओं की पूर्ति के बिना नैतिकता में सहयोग कम मिलता है, परन्तु आवश्यकताओं की पूर्ति होने से व्यक्ति नैतिक बन ही जाएगा, इसमें मेरा विश्वास नहीं है।

व्रत आवश्यकताओं की पूर्ति होने और न होने से सम्बन्धित नहीं है। उसका संबंध आत्मा से है, भावना से है। विलासी व्यक्ति व्रती नहीं बन सकता। खाना शरीर के लिए आवश्यक है, परन्तु स्वाद का लोलुप व्रती कैसे बने। अणुव्रती विलासितापूर्ण जीवन को छोड़े।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७७. अणुव्रत-दर्शन

सत्य और अपरिग्रह अहिंसा के ही दो पहलू हैं। पर दुर्भाग्य से इनके प्रति भारतीय मानस से निष्ठा डोलती जा रही है। उसे फिर से स्थिर करने की अत्यंत आवश्यकता है। अणुव्रत-आन्दोलन उसी दिशा में एक प्रयत्न है। हृदय-परिवर्तन में मुझे विश्वास है। व्यक्ति-विकास को मैं समाज-विकास और राष्ट्र-विकास की नींव मानता हूं। कोई भी प्रयत्न सर्वथा विफल नहीं होता, इस बात में मेरी अटूट निष्ठा है। संस्कार की धार जो बहती है, वह फसल उपजाती ही है। हमारा मन शिथिल न हो, श्रद्धा न डिगे—बस, अपेक्षा इतनी-सी है।

पहली बात वैयक्तिक शान्ति की है और आखिरी है अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की। सभी स्तरों की शान्ति का साधन है—आत्म-संयम की शक्ति का जागरण, अर्थ पर टिकी हुई व्यवस्था का अप्रभावी होना। लोग समाजवाद की ओर झुके जा रहे हैं। व्यवस्था को सामान्य स्तर पर लाने तक की स्थिति का विरोध करता भी कौन है। विरोध तो इस बात का है— व्यक्ति का स्वतंत्र विवेक व्यवस्था के घेरे में सिमटता जा रहा है। मेरा चिन्तन है, हमें व्यक्ति के विकास को अधिक मूल्य देना चाहिए। आज अनुशासनहीनता क्यों है? सहिष्णुता का अभाव क्यों है? आक्रमण-भावना का विस्तार क्यों हो रहा है? ये दोष अगर पहले भी थे तो क्यों थे? इन सारे प्रश्नों का उत्तर एक ही होगा—व्यक्ति-व्यक्ति के अन्तर्-भाव को जगाने का बहुत कम यत्न किया गया, किया जा रहा है। अपेक्षा यह है—हम इस ओर अधिक ध्यान दें, रोग का सही निदान करें।

अणुव्रत-आन्दोलन की आत्मा

अणुव्रत-आन्दोलन की आत्मा अहिंसा है। हिंसा जीवन से घुली-मिली रही है। फिर भी वह जीवन का व्रत नहीं बन सकी। व्रत अहिंसा है। उसे दूर रखकर मनुष्य, मनुष्य भी नहीं रह सकता। अतः वह जीवन की सर्वोपरि अपेक्षा है और इसलिये वह व्रत है।

आन्दोलन की भावना

व्यक्ति मिट नहीं सकता। जाति, प्रदेश, राष्ट्र और धर्म भी मिट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाएं—यह सम्भव नहीं लगता। अलबत्ता इन सबकी कृत्रिम भेद-रेखाएं, ऊपरी सीमाएं मिट सकती हैं। वे मिट जायें—यह अणुव्रत-आन्दोलन की भावना है। एक व्यक्ति दूसरे में अपना विलय कर दे, अपने को मिला दे, इस प्रकार की भावना का जागरण आवश्यक है। यद्यपि व्यक्ति अपना संपूर्ण अस्तित्व दूसरे में विलय कर दे, यह बात कठिन है, तथापि दूसरों के स्वत्व को चूसने की धृष्टता उसमें न जागे, इतना विलीनीकरण तो कम-से-कम आवश्यक है। इसी प्रकार अस्पृश्यता, हीनता, संदेहशीलता, वैमनस्य, आक्रमण और मिथ्यावाद न बढ़े, इतनी सीमा तक जाति, प्रदेश, राष्ट्र और धर्म-सम्प्रदायों का विलीनीकरण भी आवश्यक है। यह विलय मौलिक निधि या तात्विक गौरवमय को मिटानेवाला नहीं है। यह अति स्वार्थ, झूठे अभिमान एवं झूठे बड़प्पन की भावना का त्यागमात्र है।

इस आन्दोलन के पास त्याग-ही-त्याग की बात है। झूठ त्याग देंगे तो सच्चाई अपने-आप निखर उठेगी। दूसरों के प्रति संयम बरतेंगे तो सद्भावना अपने-आप बढ़ेगी।

अपने-आप में संयत रहेंगे तो शान्ति स्वयं बढ़ेगी। यद्यपि यह बात बहुत-सारे लोगों को कल्पना या भावना जैसी लगती है। इसीलिए यह स्वर जब-तब सुनने को मिलता है— अणुव्रत-आन्दोलन केवल भावनाप्रधान है, कार्यप्रधान नहीं। बात कुछ सच भी है। सही भावना पहले आनी ही चाहिये। उसके बिना कार्य की अच्छाई भी कैसे आएगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७८. अणुव्रत-आन्दोलन : आधार और स्वरूप

संयम की मूल्यवत्ता

जिस प्रकार भवन का आधार नींव है, वृक्ष की स्थिति जड़ है, उसी प्रकार जीवन की नींव या जड़ संयम है। अगर नींव कमजोर है तो भवन टिकाऊ नहीं होता, उसके गिरने का खतरा सदा बना रहता है। जड़ यदि कमजोर है तो वृक्ष का अस्तित्व खतरे से घिरा ही रहता है। यही बात जीवन की भी है। यदि जीवन संयम-रहित है, तो उसे पग-पग पर खतरा है। न जाने वह कब गिर पड़े। दूसरे शब्दों में वह जीवन, जीवन नहीं रह जाता।

आप कल-कल बहती नदियों को देखते हैं। संसार के लिए वे कितनी उपयोगी हैं। क्या आपने कभी इस बिन्दु पर चिंतन किया कि उनकी उपयोगिता किस पर टिकी है? उसका मौलिक आधार क्या है? उनकी उपयोगिता का मौलिक आधार संयम ही है। यदि किसी नदी के दोनों तट न रहें, इस मर्यादा में वह न बहे तो क्या परिणाम आएगा, यह बहुत स्पष्ट है। जो नदी संसार के लिए उपयोगिनी और परोपकारिणी होती है, वही अनुपयोगिनी और कष्टदायिनी बन जाती है। लोग उसे संहारिणी कहने लगते हैं। भगवान से प्रार्थना करने लगते हैं—प्रभो! इस विनाशलीला को अब जल्दी समेटो, अन्यथा हम तबाह हो जाएंगे, उजड़ जाएंगे।..... तात्पर्य यह कि नदी का संयम ही उसकी सही इज्जत और सही प्रतिष्ठा है। नीति के सन्दर्भ में भी तो यही बात है। नीति तब तक ही नीति है, जब तक वह संयम से अनुप्राणित है। संयम से कट जाने के पश्चात् वह अनीति बन जाती है।

शांति और सुख का आधार

संसार के सभी प्राणी चाहते हैं कि उनका जीवन सुखमय हो, शांतिमय हो, यह एक निर्विवाद तथ्य है। पर प्रश्न है, बने कैसे? इस प्रश्न को समाहित किए बिना सुख और शांति की चाह का बहुत अर्थ नहीं रह जाता। मेरी दृष्टि में सुखमय और शांतिमय जीवन का एकमात्र आधार संयम है। वही जीवन सुखमय और शांतिमय हो सकता है, जो संयममय है। संयम का अभाव ही उसे दुःखी और अशांत बनाता है। पर संयम या आत्मनियंत्रण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का तत्व तभी उपलब्ध हो सकता है, जब व्यक्ति के मन में आत्म-विश्वास जागे। आत्म-विश्वास के अभाव में आत्मनियंत्रण या संयम की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

नैतिक पतन का कारण

परन्तु जगत् की स्थिति हमारे सामने बहुत स्पष्ट है। आज आत्म-विश्वास है कहां? हाथ को हाथ का विश्वास नहीं। बाप को बेटे का विश्वास नहीं।... ऐसे में किसी अन्य पर विश्वास की बात तो कोसों दूर रह जाती है। परमात्मा पर विश्वास तो एक कल्पनामात्र रह गया है। धर्म-कर्म, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप तो बच्चों का हौआ हो गये हैं। अनेक धर्माचार्य इस स्थिति से चिन्तित हैं। चिन्तित मैं भी हूं। पर इससे भी अधिक चिन्ता मुझे इस बात की है कि आज का मानव शाश्वत सत्य पर भी विश्वास नहीं करता। इससे भी आगे मुझे यह कहने दीजिए कि आज का मानव अपने-आप पर भी विश्वास नहीं करता, अपने-आपको भी नहीं मानता। मेरी दृष्टि में यह अनास्थावाद ही आज के नैतिक पतन का सबसे बड़ा कारण है।

सुधार का कार्यक्रम

जो ईश्वरकर्तृत्ववादी हैं, वे ऐसा सोच सकते हैं कि परमात्मा हमें सुधार देगा, मनुष्य को मनुष्य बना देगा। पर हम तो पुरुषार्थवादी हैं, आत्मकर्तृत्ववादी हैं। हम तो अपनी आत्मा पर ही विश्वास करते हैं, अपने पुरुषार्थ का ही भरोसा करते हैं। इसलिए हमें ही अपने-आपको सुधारना होगा, अपने हाथों ही अपना उद्धार और जीवन-निर्माण करना होगा।

इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर मैंने सोचा—एक ऐसा कार्यक्रम जनता के सामने रखा जाए, जो हवा, पानी और आकाश की तरह निर्मल हो, व्यापक हो। वह सम्प्रदायवाद से सर्वथा मुक्त हो। सम्प्रदायविशेष के रंग से रंगी बात काम की होने के बावजूद भी जनता द्वारा सहजरूप में स्वीकार्य नहीं हो सकेगी। सर्वधर्म-सम्मत तत्व ही जनता को आकर्षित कर सकते हैं। इसी चिन्तन का परिणाम है— अणुव्रत-आन्दोलन।

अणुव्रत का स्वरूप

अणुव्रत-आंदोलन जाति, लिंग, रंग, भाषा, सम्प्रदाय आदि सभी प्रकार के भेदभावों से पूरी तरह ऊपर उठकर जन-जन के हृदय को छूता है। जीवन की पवित्रता, नीतिनिष्ठा और मानवीय मूल्यों में विश्वास रखने वाला कोई भी व्यक्ति; भले वह किसी भी देश-परिवेश में क्यों न जीता हो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुव्रत-आन्दोलन के इस कार्यक्रम से जुड़ सकता है, अणुव्रती बन सकता है। ऐसा कहने में मुझे कोई अत्युक्ति नहीं लगती कि अणुबम की विभीषिका से संत्रस्त मानवता को त्राण देने की गुणात्मकता इस कार्यक्रम में है। अणुव्रत का मूलभूत आधार अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच तत्व हैं। इसलिए इस कार्यक्रम की आचार-संहिता बनाते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि इसे हिंसा, असत्य आदि शाश्वत बुराइयों के साथ-साथ युगीन बुराइयों के प्रतिकारी तत्व के रूप में प्रस्तुत किया जाए। उदाहरणार्थ किसी को मत मारो—यह अहिंसा का शाश्वत नियम था ही। अब व्यापारी लोगों का शस्त्र से क्या लेना-देना। पर उन्होंने यह नहीं सोचा कि शस्त्र से ही हत्या नहीं होती। उसके दूसरे-दूसरे भी अनेक प्रकार हैं। उनकी एक छोटी-सी कलम तलवार से भी ज्यादा तीक्ष्ण चलती है। तलवार सीधा गला काटती है, जबकि यह कलम अन्दर-ही-अन्दर सीधा कलेजा चीर देती है। क्या यह तलवार की हिंसा से बढ़कर हिंसा नहीं है। क्या मिलावट करना, तोल-माप में गड़बड़ी करना हिंसा नहीं है। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए अणुव्रत-आन्दोलन व्यापारियों से कहता है—व्यापारियो! व्यापार छोड़ना आपके लिए कठिन है। पर व्यापार में नीतिभ्रष्टता को तो छोड़ो, अप्रामाणिकता को तो त्यागो, मिलावट तो मत करो, नकली माल को असली बताकर तो मत बेचो, झूठा तोल-माप तो मत करो, हाथी के दांत की तरह दो-दो बही-खाते तो मत रखो, सौदे के बीच कटौती तो मत करो, लेन-देन तय करके तो मत बदलो, चोरबाजारी तो मत करो। ऐसा करना हिंसा है, पाप है, पतन का बड़ा कारण है।

अणुव्रत-आंदोलन कहता है—प्राणवियोजन ही हिंसा नहीं है, गलत चिंतन भी हिंसा है। किसी को अस्पृश्य मानना भी हिंसा है। मैं पूछना चाहता हूं, आदमी का क्या स्पृश्य और क्या अस्पृश्य? अलबत्ता आदमी के कर्म अच्छे और बुरे हो सकते हैं, उसका आचरण और व्यवहार सत् और असत् हो सकता है, पर व्यक्ति तो घृणित और अस्पृश्य नहीं हो सकता। घृणित और अस्पृश्य तो बुराई होती है, बुरा कर्म होता है, असद् व्यवहार और भ्रष्ट आचरण होता है। इसलिए किसी को भी जाति, वर्ण,..... के आधार पर अस्पृश्य मानना चिंतन का दारिद्र्य है, मन का ओछापन है, मानवता पर कलंक का टीका है। अणुव्रत-आंदोलन मानवीय एकता की भावना का विस्तार कर छुआछूत के इस कलंक को धोना चाहता है।

अणुव्रत-आंदोलन बताता है—किसी से अतिश्रम लेना भी क्रूरता है, घोर हिंसा है। आपके पास कोई नौकर है। वह आपका काम करता है और आप उसको पारिश्रमिक देते हैं, वेतन देते हैं। पर पारिश्रमिक देते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि आप उसके साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करें, उससे अतिश्रम लें। मानवीय संवेदना और अहिंसा के आधार पर आपको इससे बचना चाहिए।

मैं मानता हूं कि बुराइयां समय-समय पर अपना स्वरूप बदलती हैं। अतीत की बहुत-सारी बुराइयां आज देखने को नहीं मिलतीं। पर उनका स्थान दूसरी-दूसरी बुराइयों ने ले लिया है। कुछ बुराइयां, जो पहले बहुत कम देखने-सुनने को मिलती थीं, वे आज बहुत व्यापक बन गई हैं। बीस-तीस वर्षों पूर्व तक ब्लैक की बुराई नहीं के बराबर थी, पर आज वह चारों ओर अपने पांव पसार रही है। इसलिए अणुव्रत-आंदोलन शाश्वत बुराइयों के साथ-साथ सामयिक/युगीन बुराइयों पर भी प्रहार करता है।

एक अणुव्रती की जीवनचर्या अणुव्रत-भावना के प्रतिकूल न हो, इस चिंतन के आधार पर उसकी आचार-संहिता में अहिंसा, सत्य आदि तत्वों से संबंधित नियमों के साथ-साथ चर्या की दृष्टि से भी कुछ नियम रखे गए हैं। एक अणुव्रती बनने वाला व्यक्ति मांस-भक्षण नहीं करेगा। उसका खाद्य तामसिक तो होगा ही नहीं, सात्विक में भी अनियंत्रित नहीं होगा। वह अपने खाने- पीने के दैनिक पदार्थों का सीमाकरण करेगा। मर्यादा से अधिक संग्रह नहीं करेगा।

अणुव्रत की यह आचार-संहिता स्वस्थ समाज-निर्माण की दिशा में एक सशक्त अभियान है। यह अभियान जितने व्यापक स्तर पर फैलाव करेगा, राष्ट्र की ,चारित्रिक और नैतिक भित्ति उतनी ही सुदृढ बनेगी। ख्याल रहे, उन्नत राष्ट्र का ,मौलिक आधार चारित्रिक एवं नैतिक बल ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७९. नैतिक क्रांति की सही दिशा

गिरता हुआ राष्ट्रीय चरित्र

एक समय था, भारत का राष्ट्रीय चरित्र बहुत ऊंचा माना जाता था। विश्व-मानव के लिए एक आदर्श था। तभी तो यहां के स्मृतिकारों ने कहा—

एतद्देशप्रसूतस्य, सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्, पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

अर्थात् इस देश में जन्मे हुए अग्रजन्मा से पृथ्वी के सारे मनुष्य चरित्र की शिक्षा लें। पर आज उसकी स्थिति इससे सर्वथा प्रतिकूल है। यहां के नागरिक सत्यनिष्ठा, प्रामाणिकता, अहिंसा आदि सात्त्विक गुणों से परे होते जा रहे हैं। इसका प्रतिफल है—राष्ट्रीय चरित्र का पतन। क्या भारतीयों के लिए यह लज्जा का विषय नहीं है। कहां तो उनका वह उत्कृष्ट चरित्र, जिसे संसार के लोग अनुकरणीय मानते थे और कहां आज की चारित्रिक दृष्टि से गई-गुजरी हालत। क्या वे अन्तर्-अवलोकन करेंगे ?

स्वार्थवृत्ति का दुष्परिणाम

व्यक्ति स्वार्थवश कितना नीच और हीन हो जाता है, यह किसी से छिपा नहीं है। वह घृणित-से-घृणित कार्य करता भी नहीं हिचकिचाता। यह आज के मानव-मानस में परिव्याप्त स्वार्थमूलक पागलपन का संकेत है। यह समाज के हीन और निम्न चरित्र की सूचना है। जब तक मानव अपने मन से घिनौनी और जघन्य वृत्तियों को दूर नहीं करेगा, वह सुखी और स्वस्थ समाज का चित्र कल्पना में नहीं ला सकता।

जीवंत धर्म

यह कहना अतिरंजन नहीं होगा कि आज अनैतिकता का घोर प्रवाह बह रहा है। सत्य, नैतिकता और ईमानदारी पर आधारित मूल्य विघटित हो रहे हैं। तब हरेक वर्ग के व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसके जीवन में नैतिकता आए। अनिवार्य रूप में आए। हालांकि नैतिकता के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नारे तो आज बहुत लगते हैं, पर तदनुरूप आचरण कम होता है। कहनी और करनी की इस विषमता को आज पाटने की नितान्त आवश्यकता है। कहने के पीछे हृदय की निष्ठा होनी चाहिए। वह निष्ठा कहने के पूर्व स्वयं के जीवन में उतरने से आती है। इसलिए कहने के पूर्व आचरण की भूमिका होनी चाहिए। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आचरित धर्म का उपदेश ही दूसरों के लिए प्रेरणादायी होता है। अतः आज कहने के बजाय करने का समय है। अणुव्रत-आंदोलन जीवंत धर्म का आंदोलन है। उसके व्रत प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आने चाहिए। नैतिक क्रांति की सही दिशा में यह एक आवश्यक कदम है। इसलिए सबको इस ओर अग्रसर होने का मानसिक संकल्प करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८०. व्यावहारिक जीवन और अणुव्रत

जीवन का लक्ष्य

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य ऐहिक सुख-सुविधा को पाना, भौतिक सामग्री को जुटाना, धन और वैभव को एकत्रित करना नहीं है। आप पूछेंगे, फिर लक्ष्य क्या है? लक्ष्य से तात्पर्य क्या है? मनुष्य जीवन का लक्ष्य बहुत ऊंचा है। लक्ष्य का मतलब है—वह कहां जाना चाहता है? उसने अपना गन्तव्य-स्थल कौन-सा बनाया है? किस अवस्था को प्राप्त करने का इच्छुक है? इसका संक्षेप में समाधान यह है कि वह आत्म-दर्शन करना चाहता है, मुक्त होना चाहता है, निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त होना चाहता है। दूसरे शब्दों में जन्म-मरण की शृंखला को तोड़ना, सब प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाना, अनंत सुखों को प्राप्त करना उसका लक्ष्य है। स्पष्ट ही है कि इस लक्ष्य के निर्धारित होने पर वह बाह्य पदार्थों में आसक्त नहीं हो सकता। पदार्थों की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है कि वह अपने लक्ष्य से शून्य बन गया है। और लक्ष्य-शून्य कोई भी काम अच्छा नहीं होता। निर्लक्ष्य गमन, भाषण, चिंतन आदि उन्मत्त के ही हो सकते हैं, विवेकवान् के नहीं।

अनन्त सुख की साधना में बाह्य वस्तुओं का कोई भी मूल्य न होने की बात सुनकर लोगों का प्रश्न हो सकता है, क्या संसार में बाह्य वस्तुओं की कोई उपयोगिता नहीं है? उपयोगिता नहीं है, ऐसी बात नहीं है। संसार में एकान्ततः निरर्थक चीज कोई भी नहीं है। लेकिन इतना अवश्य है कि हर वस्तु की उपयोगिता/कीमत अपने-अपने क्षेत्र में है। सब वस्तुओं का एक ही जगह उपयोग हो, यह आवश्यक नहीं। इसलिए आप यह समझें कि आत्म-साधना में बाह्य वस्तुएं एक स्थूल निमित्त बन सकती हैं, मौलिक साधन नहीं।

जीवन के दो पक्ष

जीवन के दो पक्ष हैं—आध्यात्मिक और व्यावहारिक। जीवन को दो भागों में बांटने का मेरा मतलब जीवन को खण्डित करना नहीं है। जीवन तो एक अखण्ड वस्तु है। उसे दो भागों में बांटने का उद्देश्य है—लोगों को अपने कर्त्तव्य ठीक-ठीक जान पड़ें। साधारण लोगों को जब अलग-अलग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करके बातें बताई जाती हैं, तभी वे ठीक से समझ पाते हैं, अन्यथा नहीं।

आध्यात्मिक जीवन तो त्यागमय ही होता है। बात दूसरे पक्ष की है। आज के लोग किसी चीज को सहसा भावी आशा से नहीं देखना चाहते। वे पहले वर्तमान को ही पकड़ते हैं। उनके चिंतन की धुरी यही रहती है—इसके आचरण से हमें इस जीवन में क्या लाभ होगा? वे दूर की बात नहीं सोचना चाहते। परलोक सुधारने की बात उनकी समझ में कम आती है। वे कहते हैं—भविष्य के सुख की कल्पना में वर्तमान जीवन को कष्टमय बनायें, यह बात अवैज्ञानिक है। किन्तु गहराई से सोचें तो यह मात्र शब्दों का ही झंझट है। धर्म परलोक के लिये है—यह इस अपेक्षा से कह दिया जाता है कि मुक्ति इस जन्म के बाद ही मिलती है। दूसरी अपेक्षा यह है कि इस जीवन में कुछ दैहिक कष्ट भी होता है। पर मूल में तो धर्म का लक्ष्य जीवन-शुद्धि, आत्मिक उज्ज्वलता व चेतना-जागृति ही है।

धर्म और जीवन-विकास

धर्म, संयम और व्रत आदि का संबंध इहलोक-परलोक से नहीं, बल्कि जीवन-विकास से है। व्रताचरण से जीवन-शुद्धि की ही अपेक्षा रखी जा सकती है। ऐहिक सुख-सुविधा की भावना रखना उपयुक्त नहीं। व्यावहारिक जीवन का संबंध लोग अर्थ से जोड़ते हैं। पर केवल कपड़ा, रोटी, मकान, धन आदि ही व्यावहारिक जीवन नहीं, अपितु उसके और भी अंग हैं। व्यावहारिक जीवन का अर्थ है—दैनन्दिन के कार्यक्रम। लेकिन क्या वे सब इन बाह्य चीजों से ही पूरे हो जाते हैं? कुछ आंतरिक चीजों की भी आवश्यकता रहती है। दिन में मनुष्य पचासियों काम करता है। क्या कोई भी काम उसकी सहानुभूति, उदारता, संयम, प्रेम, प्रामाणिकता के बिना हो सकता है? स्पष्ट है, प्रत्येक काम में इन आभ्यन्तर गुणों की आवश्यकता रहती है। अन्यथा उसका व्यवहार चल नहीं सकता। और व्यवहार न चल सकने की स्थिति में जीवन दूभर बन जाता है। क्या कोई भी मनुष्य यह चाहता है कि मेरा पड़ौसी मेरा शत्रु बन जाए? मेरे से कठोर व्यवहार करे? यदि नहीं तो फिर उसे भी सलक्ष्य अपना ख्याल रखना होगा और संयम रखकर वैसा ही बर्ताव करना होगा, जिससे किसी को कष्ट न हो।

दया आपकी होय

गहराई से देखा जाए तो यह दूसरों को कष्ट से बचाने के लिये नहीं, अपितु अपनी असत् प्रवृत्ति से बचने के लिये करना चाहिये। अणुव्रत-आंदोलन का पहला नियम है—मैं चलने-फिरने वाले निरपराध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणी की संकल्पपूर्वक घात नहीं करूंगा। व्यावहारिक जीवन में इसका कितना उपयोग है, यह आप स्वयं समझ सकते हैं। यदि इस नियम का जागरूकता से पालन किया जाए तो दूसरों से स्वतः मधुर सम्बन्ध बन जाते हैं, दूसरों की सुरक्षा अपने-आप हो जाती है। और वह सुरक्षा वास्तव में अपनी ही रक्षा है, निश्चय में अपने पर ही दया है। जैसाकि संत तुलसीदासजी ने कहा है—

'तुलसी' दया न पार की, दया आपकी होय।
तू किण ने मारे नहीं, तनै न मारे कोय॥

—तुम यदि किसी को नहीं सताओ तो उसका प्रतिफल यह होगा कि लोग भी तुम्हें नहीं सताएंगे।

भिक्षु स्वामी ने इसी तथ्य को यों अभिव्यक्त किया है—कोई जीव नहीं बचाया जाता। असल में तो अपने-आपको ही बचाया जाता है। मरनेवाला पापी नहीं होता, पापी मारने वाला होता है। इसलिए जो हिंसा नहीं करता, वह अपनी आत्मा को बचाता है। उसे कलुष से लिप्त नहीं होने देता। लेकिन इतनी गहरी बात गंभीर चिंतक ही समझ सकते हैं, साधारण-जन नहीं। इसीलिए 'दूसरों को बचाओ'—सामान्य व्यवहार में ऐसा ही कहा जाता है।

वाणी-संयम की उपादेयता

जीवन-व्यवहार में वचन का उपयोग तो अनिवार्य-सा है, किंतु उसमें संयम रहना चाहिये, यह अणुव्रत की दृष्टि है। वचन के कटु एवं असत्य प्रयोग से तरह-तरह के अनर्थ होते हैं। किसी का मर्मोद्घाटन करके व्यक्ति उसको अनायास ही अपना विरोधी तैयार कर लेता है। वाणी का प्रहार ऐसा होता है कि व्यक्ति जीवन में उसे कभी नहीं भूलता। सदा मिलकर चलने वाले भी वाणी के असंयम से कट्टर शत्रु बन जाते हैं। इसीलिये जीभ सबसे कटु एवं मीठी मानी गई है। इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए अणुव्रत आंदोलन में एक नियम वाणी-संयम से सम्बन्धित रखा गया है। उसके आधार पर व्यावहारिक जीवन को बहुत प्रशस्त बनाया जा सकता है। अनेक अड़चनें मिटाई जा सकती हैं। इस प्रकार अणुव्रतों की उपयोगिता व्यावहारिक जीवन में स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है।

जीवन सादा बनाएं

जीवन के मुख्य तीन अङ्ग हैं—रहन-सहन, खान-पान और आचार-विचार। वर्तमान जीवन-शैली के अनुसार तीनों ही बहुत बोझिल हैं। आज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की धारणा में जीवन-स्तर का जो मापदण्ड बन गया है, वह बहुत ही गलत है और वह किसी भी प्रकार निभ नहीं रहा है। पोजीशन---झूठी प्रतिष्ठा की बीमारी ने सब-कुछ खोखला कर दिया है। व्यक्ति की नैतिकता, सत्यवादिता, प्रामाणिकता आदि को समाप्त कर दिया है।

व्यापारी, राज्य-कर्मचारी, अध्यापक, वैद्य, डॉक्टर आदि सभी वर्गों के लोग अनैतिक प्रवृत्तियों को पोजीशन की सुरक्षा के लिये धड़ल्ले से करते हैं, बड़े आनन्द से करते हैं। उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। इससे भी आगे जो लोग रिश्वत, मिलावट आदि को बुरा मानते हैं, वे भी इन प्रवृत्तियों को शान से करते हैं। इस संदर्भ में उनका तर्क यह होता है कि हमें भी आखिर इस समाज में जीना है। जब समाज ने परिस्थितियां ही ऐसी बना डाली हैं तो फिर हमारे सामने दूसरा चारा ही क्या है। मैं नहीं समझता, यह जीवन का बोझ, जो निभाया नहीं जा सकता, उसे लोग क्यों ढोते हैं? क्यों नहीं अपने जीवन को सादा बनाते हैं और पोजीशन की झूठी भूख को पूरा करते हैं।

रहन-सहन में अनेक तरह के खर्चे होते हैं। उसे बहुत सादगीपूर्ण बनाया जा सकता है। विवाह आदि के प्रसंगों पर होनेवाले भोजों में अनेक प्रकार की मिठाइयां बनाई जाती हैं, बेशुमार व्यंजन बनाए जाते हैं। इस स्थिति को देखकर मन में प्रश्न उठता है, क्या लोगों का जीवन मात्र खाने के लिए ही है? कहना नहीं होगा, इसके पीछे अपने बड़प्पन की सुरक्षा मुख्य रूप से काम करती है। समाज इसके नीचे दबा जा रहा है। आचार-विचार कितना नीचा हो गया है, इसके विषय में तो कुछ कहने की जरूरत ही नहीं। आप सबके सामने स्थिति स्वयं स्पष्ट है।

सूत्र रूप में मैं एक ही बात कहना चाहता हूं कि आप अपने जीवन को हल्का बनाएं, सादा बनाएं। उसे नैतिकता, प्रामाणिकता, सत्यवादिता, अहिंसा, संयम, संतोष, स्वावलंबन आदि तत्त्वों से भावित करें। जीवन की समस्याओं का वास्तविक समाधान इन्हीं तत्त्वों में निहित है। जैसे-जैसे ये तत्त्व जीवनगत होते जाएंगे, वैसे-वैसे जीवन जीने का सही आनन्द अनुभव होने लगेगा। अणुव्रत के छोटे-छोटे संकल्पों को स्वीकार कर आप इस लक्ष्य को प्राप्त हो सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दानुक्रम/विषयानुक्रम

अ

अचौर्य २०३
अणुव्रत १५,१६,३१,३८,४५,
४९,५२,६१,६२,६४,६५,
६७,६९,८०,८८,१०२,
१०३,१११,११४,११७,
१३३,१५५,१५९,१६०,
१६५,१६६,१७५-२१८
—आंदोलन देखें—अणुव्रत
—समाज-व्यवस्था १९१,१९२,
१९८-२०२
अणुव्रती की जीवनशैली २०५,
२१२
अतिक्रम १३६
अतिचार १३६
अधर्म २१, २२, देखें—धर्म
अध्यापक १५०, १५१
अनाचार १३६
अनाथ ६१
अपरिग्रह १२९-१३३,२०४,
देखें—परिग्रह
अभयदान ९९
अभिभावक १५०
अमीर १२९-१३३
अयोग (अक्रिया) ४१, ४२
अर्थ देखें—धन
अशांति १९, देखें—शांति
असत्य १४०-१४२, देखें—सत्य
—बोलने के कारण १४१,१४२
अस्पृश्यता २११
अहिंसक समाज-व्यवस्था देखें—
अणुव्रत समाज-व्यवस्था
अहिंसा ५,३४,४०,११६,१५६,
१५७,१६७-१७०,१८९,
१९८-२०३,२१६,२१७,
देखें—हिंसा

आ

आकांक्षा २७
आचार-धर्म ५
आत्म-निरीक्षण १७९
आत्मवान् (चेतन) ४६
आत्म-नियंत्रण देखें—संयम
आत्म-संयम देखें—संयम
आलोचना ५०,५१

उ

उपदेश ५४-५६
उपभोग २९
उपशम १,२
उपासना ३२,१६३,१६४,१८०

ओ

ओसर ८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क

कर्तव्य २२,१६९
कार्यकर्ता १८४,१९६
कुरूढि ८६
क्रोध १,२
क्रिया के चार क्रम १३६

क्ष

क्षमा ८३,८५,९५-९८

ख

खमतखामणा देखें—क्षमा
खाद्य-संयम १२३-१२५,
देखें—स्वाद-वृत्ति

ग

गरीब ६१,१२९-१३३

च

चार्वाक दर्शन ८७
चुनाव २०४

ज

जीवन ३,६,७,२६,३४,५९-६२,
७५-७७,८६,१५८,१५९,
१६१,१९३,२१५-२१८,
देखें—जीवन-निर्माण,
जीवन-रूपांतरण
—निर्माण ६,७,३०,७५-७७,
१११,१५८,१५९,२१६-
२१८
—रूपांतरण १०४
जैन-दर्शन २७,४१-४३
जैन-परंपरा देखें—जैन-दर्शन
जैन-संप्रदाय १४६-१४८

ज्ञ

ज्ञान (शिक्षा) ६६, देखें—शिक्षा
ज्ञान (सम्यक् बोध) ६९,७०,
९०,९१
ज्ञानी ४६,४७

त

तप देखें—तपस्या
तपस्या १०,८७,८८,११८
तेरापंथ १७,५३,५५,१९१,२००
त्याग ५
त्यागी ८

द

दरिद्र देखें—गरीब
दान ६७,९९
दुःख ५७,५८,१०२,११५,
देखें—सुख
दुर्व्यसन ८६,९३,९४
देव २०,२१,१२०

ध

धन ४७,१००,१०१,११०
धर्म ८-१२,२१,२२,६६,८१,८७,
९२,१५८,१६३-१६६,
१८०,१८१,२१३,२१४,
२१६
—युद्ध ४
धार्मिक ९२,१८०
धीर ९३

न

नमोक्कार मंत्र ४३
नास्तिक ६,९,७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीति ६६,६७
नैतिक प्रशिक्षण १५३,१५४

प

परिग्रह १००,१०१,१२९-१३३, २००,२०१, देखें—अपरिग्रह, धन
परिभोग २९
परिस्थितिवाद ३१,१८६-१९०, १९६
पाप ५,२०,७८,७९,११३,११४ —प्रक्षालन ११३,११४
पूज्य ८
प्रवचन ५४-५६,८९
प्रशंसा ४९,५०
प्रायश्चित्त ९६

फ

फैशन ६०,६१

ब

बंधन ७३
बुराई ६५,७८,७९,२१२
बौद्ध दर्शन ४१
ब्रह्मचर्य १०,११,१०४-१०७, ११८-१२८,१३४-१३८, २०३,२०४

भ

भक्ति ३२,३३, देखें—उपासना
भारतीय संस्कृति ३५,३६,६१, १३३,१५९,१६०
भूदान ६७

म

मद्य-निषेध १७१-१७४, देखें—शराब
मर्यादा ४
महिला १२५
मानव-जीवन देखें जीवन
मित्र १४७,१४८
मिथ्यात्व देखें मिथ्यादर्शन
मिथ्यादर्शन २०,२१,७८,७९ शल्य देखें मिथ्यादर्शन
मुक्ति देखें—मोक्ष
मूढ २३,३७
मेधावी ३२,१५८
मैत्री ३७,३८,८२-८५,१४६-१४८,१६०,१६१
मोक्ष ३,६३,७३

य

युद्ध ८२, देखें—धर्मयुद्ध
योग (क्रिया) ४१

ल

लोक-धर्म २२

व

वाणी-संयम १२०,१३५,२१७
विचार-भेद १७,१८
विज्ञान ३४,६९,२०६
विद्या देखें—ज्ञान
विद्या देखें—शिक्षा
विद्यार्थी ६६,७५-७७,१४९-१५५,१७५,१७६
विधवा-विवाह १०५
विश्व-शांति २३,२४,१६१,१६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीतराग २०,२१
व्यक्ति और समाज १९८
व्यक्तित्व ७१
व्यक्ति-निर्माण १०९,११०
व्यक्ति-सुधार १३,१४,२१०
व्यतिक्रम १३६
व्यसन देखें—दुर्व्यसन
व्यापकता ५२,५३
व्यापारी २११
व्रत २५,३१,७७,८१,२०६

श

शत्रु १४७,१४८
शराब ८६
शांति १९,२५,२६,३१,३७,३९,
४७,७१,८१,९९-१०३,१
७७,२०७,२०८-२१०,
देखें विश्व-शांति, अशांति
शास्त्रज्ञ ४९
शिक्षा ३०,७५-७७,१५३,१५४
— प्रणाली १५३,१५४
शील की नव बाड़ १२०-१२६,
१३५,१३६
श्रद्धा १९,६९,७०

स

संकल्प १०४-१०७,१४५
संकीर्णता ५२,५३
संगठन १७,१८
संघर्ष ३९,६३,१६१,१६२,२०१
संयम ३,४,३९,८८,१०१,११०,
१६५,१७८-१८०,१८२,
१८३,२०९,२१०
संस्कृति ३५,३६, देखें—भारतीय
संस्कृति
सत्य ३२,४०,१३९-१४५,२०३
समभाव ३०,३१,४९-५१
समाज १०८-१११,१८२,१८३,
१९१,१९२,१९८-२०२
—कल्याण देखें - समाज-निर्माण
—निर्माण ८६,१०८,१११,
१९१,१९२,१९८-२०२,
२०७,२१२
सम्यक्त्व देखें - सम्यक् दर्शन
सम्यक् दर्शन २०,२१,७९,८०,
देखें - मिथ्यादर्शन
सांख्य दर्शन ४१
साधना ८९-९१
सुख ५७,५८,७१,८८,९९-१०२,
११२-११७,१७८,१७९,
२०९,२१०, देखें—दुःख
सुधार की प्रक्रिया १३,१४,१५,
१०३,१७८,२१०
स्त्री देखें—महिला
स्वाद-वृत्ति २७-२९,
देखें - खाद्य-संयम

ह

हिंसा ५,२३,२४,५७,१५६,
१५७,१६७-१७०,
देखें – अहिंसा
हृदय-परिवर्तन ९३,९४,१८९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामानुक्रम

अ

अमेरिका १७९
अरणककुमार १२७
अर्जुन १९९

आ

आयारो ४६ (जैन आगम)
आर्द्रकुमार १२७
आवश्यक (जैन आगम) १०४

ई

ईराक १७

उ

उत्तर प्रदेश १८५
उत्तराध्ययन ७९,११९,१२३

ऋ

ऋग्वेद १३९

क

कबीर ४३,१६४
कालिदास ३६
कुरान ७,८
कृष्ण ११३,११४,१९९

ग

गांधी १०३,१८८
गीता ८,१०१,१०९,१७७,१९९
गुजरात २८
गुरुग्रन्थसाहिब ८
गौतम (गणधर) ११८

च

चेलना १२९

ज

जयपुर १७

त

तुलसी १५०,२१७

द

दशवैकालिक (जैन आगम) ८,
१२३
दिल्ली ४३,८२,१०२,१७९
द्रौपदी ११४
द्वारिका ११३

न

नंदीसेन १२७
नमि (राजर्षि) १४८
नेहरू (पं. नेहरू) २४,१५५

प

पराशर १२३
पाकिस्तान १०२
पूना ९०
प्रश्नव्याकरण (जैन आगम)
१३४

ब

बम्बई ५०,१७१,१७९
बाइबल ८
बुद्ध १०३,१८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ

भर्तृहरि ४६
भारत ४,१९,२४,२५,३५,६०, ६३,६५-६८,८४,९९,१०२, १७९,२१३
भारतवर्ष देखें- भारत
भिक्षु (आचार्य) १७,४१,४४, ५५,५६,१०८,१२४,१८७, २१७

म

मध्य प्रदेश २८
महाभारत १७२
महाराष्ट्र २८
महावीर १,८,१०,२७,४३,४९, ५७,५८,१००,१०३,११८, १४६,१४७,१५२,१७२, १८८
माघ १८३
मिथिला १४८

र

राजस्थान २८
राजेन्द्रप्रसाद ४९,८४,१५५
राम ६१,६२
रामायण १३६
रूस १७९

ल

लखनऊ १७६
लेबनान १८

व

वी० के० आर० वी राव १५५
विजय (विजय सेठ) १०,१०४-१०६
विजया (विजया सेठानी) १०, १०४-१०६
विनयविजय (उपाध्याय, जैन मुनि) १०६
विनोबा ६६,६७
विश्वामित्र १२३

श

श्रेणिक १२९

स

संयुक्तराष्ट्रसंघ (राष्ट्रसंघ) ८२, ८५
सिंदूरप्रकर १३५
सुखलाल (मुनि) ४१
सुलस २०१,२०२
सोमप्रभ १३५
स्थूलिभद्र १०
स्थानांग (जैन आगम) ५०

ह

हनुमान ६१,६२
हाथरस ५५
हेमचंद्र (जैनाचार्य) ३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारिभाषिक शब्द-कोश

अकषाय संवर—आत्मा का राग-द्वेषात्मक उत्ताप (क्रोध, मान आदि) कषाय है। कषाय का सर्वथा अभाव अकषाय संवर है। यह ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। देखें—गुणस्थान।

अकाम निर्जरा—मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से की जानेवाली निर्जरा के अतिरिक्त निर्जरा अकाम निर्जरा है। देखें—निर्जरा, सकाम निर्जरा।

अध्यवसाय—चेतना का एक अति सूक्ष्म स्तर।

अनशन—अन्न, पानी, खाद्य (मेवा आदि) और स्वाद्य (लवंग आदि)—इन चारों प्रकार के आहार को त्यागना अनशन है। वह दो प्रकार का होता है—इत्वरिक और यावत्कथिक। उपवास से लेकर छह मास तक की तपस्या इत्वरिक है। आमरण तपस्या को यावत्कथिक कहा जाता है। अनशन के तीन भेद भी हैं—(१) भक्तप्रत्याख्यान (२) इंगिनीमरण (३) प्रायोपगमन।

अप्रमाद संवर—अध्यात्म के प्रति आंतरिक अनुत्साह प्रमाद है। इस प्रमाद का सर्वथा अभाव अर्थात् अध्यात्म के प्रति सम्पूर्ण जागरूकता अप्रमाद संवर है। इस भूमिका में प्राणी कोई पापकारी प्रवृत्ति नहीं करता। यह संवर सातवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। देखें—गुणस्थान।

अभव्य—मोक्ष जाने की अर्हता से सम्पन्न प्राणी भव्य कहलाते हैं। इससे विपरीत जिन प्राणियों में यह अर्हता नहीं है, वे अभव्य हैं। भव्यत्व-अभव्यत्व की यह स्थिति किसी कर्म का क्षय, क्षयोपशम, उपशम और उदय नहीं, अपितु अनादि पारिणामिक भाव है। इसलिए कोई भी भव्य प्राणी त्रिकाल में कभी अभव्य नहीं होता और अभव्य कभी भव्य नहीं होता।

अयोग संवर—योग का अर्थ है—शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—शुभ और अशुभ। अशुभ प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध व्रत संवर तथा शुभ प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध अयोग संवर है। यह आत्मा की शैलेषी—अप्रकम्प अवस्था है। यह चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरहंत—देखें—तीर्थंकर।

अशुभ योग—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। प्रवृत्ति दो तरह की होती है—सत् और असत्। असत् प्रवृत्ति को अशुभ योग कहते हैं। अशुभ योग अशुभ बंधन (पाप) का हेतु है। देखें—शुभ योग।

आगम—जैनधर्म के मूल शास्त्र आगम कहलाते हैं। इनमें तीर्थंकर महावीर की वाणी के आधार पर गणधरों, ज्ञानी स्थविरों द्वारा गुम्फित सूत्रों—ग्रंथों को समाविष्ट किया गया है। गणधरों द्वारा बनाए गए आगम 'अंग' तथा विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा बनाए गए आगम 'उपांग' आदि कहलाते हैं। देखें—तीर्थंकर, गणधर। श्वेताम्बर परम्परा में स्थानकवासी एवं तेरापंथ द्वारा ३२ आगम स्वीकृत हैं—११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद, १ आवश्यक।

अन्य श्वेतांबर परम्पराएं ४८ या ८४ आगम भी मानती हैं।

आचार्य—धर्मसंघ की सारणा-वारणा एवं शिक्षा-दीक्षा की दृष्टि से निर्धारित सात पदों में से एक पद। सूत्र के अर्थ की वाचना देना और गण का सर्वोपरि संचालन आचार्य का कार्य है। उपाध्याय, स्थविर आदि शेष छह पदों पर नियुक्तियां करना आचार्य का ही अधिकार-क्षेत्र है। तीर्थंकर की अनुपस्थिति में उनके प्रतिनिधि के रूप में वे धर्मसंघ का अध्यात्मिक अनुशासन और मार्ग-दर्शन करते हैं। नमोक्कार मंत्र (नमस्कार महामंत्र) का तीसरा पद उनके लिए प्रयुक्त है।

आरंभ—सावद्य प्रवृत्ति या हिंसा।

आराधक—जो साधक अपने स्वीकृत संकल्पों—त्याग-प्रत्याख्यानों को दृढ़ता से निभाता है तथा छद्मस्थता के कारण उनमें ज्ञात या अज्ञात रूप में किसी प्रकार की स्खलना (दोष-सेवन) होने पर प्रायश्चित्त स्वीकार करता है, वह आराधक है।

आवश्यक सूत्र—जैन आगमों में एक आगम, जिसमें प्रतिदिन करणीय छह आवश्यक क्रियाओं का विधि-विधान उपलब्ध है। छह आवश्यक क्रियाएं हैं—१. सामायिक २. चतुर्विंशति स्तव ३. वंदना ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान।

उपशम—उदयावलिका में प्रविष्ट मोहकर्म का क्षय हो जाने पर अवशिष्ट मोहकर्म का सर्वथा अनुदय होता है, उसे उपशम कहते हैं। आठ कर्मों में उपशम केवल मोहकर्म का ही होता है। इससे बननेवाली आत्मा की अवस्था की स्थिति मात्र अन्तर्मुहूर्त होती है। देखें—मोहकर्म।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्याय—धर्मसंघ की सारणा-वारणा एवं शिक्षा-दीक्षा के लिए निर्धारित सात पदों में से एक पद। सूत्र की वाचना देना, शिक्षा की वृद्धि करना उपाध्याय का काम है। उपाध्याय की नियुक्ति आचार्य के द्वारा होती है। नमोक्कार मंत्र (नमस्कार महामंत्र) का चौथा पद इनके लिए प्रयुक्त है।

ऊनोदरी (ऊनोदरिका)—आहार, पानी, वस्त्र, पात्र एवं कषाय आदि की अल्पता करने को ऊनोदरी कहते हैं। नवकारसी, एकाशन आदि उपवास से छोटी जितनी भी तपस्या होती है, वह सब ऊनोदरी के अन्तर्गत है।

काय-क्लेश—विभिन्न प्रकार के आसनों तथा कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर को साधना कायक्लेश है।

केवलज्ञान—आत्मा द्वारा जगत् के समस्त मूर्त्त एवं अमूर्त्त तथा उनकी त्रैकालिक सभी पर्यायों का प्रत्यक्ष बोध केवलज्ञान है। इसमें इन्द्रियों और मन की सहायता की कोई अपेक्षा नहीं रहती। यह तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्धों में होता है। देखें—गुणस्थान।

केवलदर्शन—आत्मा द्वारा जगत् के समस्त मूर्त्त व अमूर्त्त पदार्थों तथा उनकी सभी पर्यायों का सामान्य प्रत्यक्ष अवबोध केवलदर्शन है। इसमें इन्द्रियों व मन की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। यह तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्धों में होता है। देखें—गुणस्थान।

क्षयोपशम—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—इन चार घात्य कर्मों के हलकेपन को क्षयोपशम कहते हैं। इसमें इन चारों कर्मों के विपाकोदय का अभाव होता है।

क्षयोपशम में प्रदेशोदय होता है, विपाकोदय का अभाव होता है या मंद विपाकोदय होता है। जो कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट हो चुके होते हैं, उनका क्षय होता है और जो उदय में नहीं आए हैं, उनका विपाकोदय नहीं होता, उपशम होता है। चूंकि यह क्षय उपशम के द्वारा उपलक्षित है, इसलिए क्षयोपशम कहलाता है।

गणधर—तीर्थ-स्थापना के प्रारम्भ में होने वाले तीर्थंकर के विद्वान् शिष्य, जो कि उनकी वाणी का संग्रहण कर उसे अंग-आगम के रूप में गुम्फित करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान—कर्म-विशुद्धि की तरतमता के अनुरूप प्राणी के आध्यात्मिक विकास की विभिन्न भूमिकाएं/स्तर गुणस्थान हैं। इन्हें जीव-स्थान भी कहते हैं। गुणस्थान चौदह हैं—१. मिथ्यादृष्टि २. सास्वादनसम्यग्दृष्टि ३. मिश्रदृष्टि ४. अविरतसम्यग्दृष्टि ५. देशविरत ६. प्रमत्तसंयत ७. अप्रमत्तसंयत ८. निवृत्तिबादर ९. अनिवृत्तिबादर १०. सूक्ष्मसंपराय ११. उपशान्तमोह १२. क्षीण-मोह १३. सयोगीकेवली १४. अयोगीकेवली।

(सम्यक्) चारित्र—महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) आदि धर्मों का आचरण करना (सम्यक्) चारित्र है। चारित्र के पांच प्रकार हैं—१. सामायिक २. छेदोपस्थाप्य ३. परिहार-विशुद्धि ४. सूक्ष्मसंपराय ५. यथाख्यात।

सामायिक और छेदोपस्थाप्य चारित्र छठे से नवें गुणस्थान तक होते हैं। परिहारविशुद्धि चारित्र छठे और सातवें गुणस्थान में होता है। सूक्ष्मसंपराय चारित्र की प्राप्ति दसवें गुणस्थान में होती है। यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। प्रथम पांच गुणस्थानों में कोई चारित्र नहीं होता। देखें—गुणस्थान।

चारित्रमोहनीय (कर्म)—मोहनीय कर्म की वह अवस्था, जो आत्मा के चारित्र गुण को विकृत करती है।

(सम्यक्) ज्ञान—यथार्थबोध को (सम्यक्) ज्ञान कहा जाता है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल—ये उसके पांच भेद हैं।

तप—देखें—निर्जरा।

तपस्या—देखें—निर्जरा।

तीर्थंकर—

- धर्मचक्र प्रवर्तक।
- साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन चार तीर्थों के संस्थापक।
- चार घनघाती कर्मों का क्षय कर जो केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों को प्राप्त कर लेते हैं तथा आठ प्रातिहार्य आदि विशिष्ट उपलब्धियों के धारक होते हैं, वे ही अर्हत्, अरहंत, जिन या तीर्थंकर कहलाते हैं।
- नमस्कार महामंत्र का प्रथम पद इनके लिए प्रयुक्त है। जीवन की समाप्ति पर वे सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।
- प्रत्येक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी में भरतक्षेत्र तथा ऐरावतक्षेत्र में चौबीस तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं। यह चौबीसी कहलाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

० भरतक्षेत्र में वर्तमान चौवीसी के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ व अन्तिम तीर्थंकर महावीर थे।

(सम्यक्) दर्शन—यथार्थ तत्त्वदृष्टि को (सम्यक्) दर्शन कहते हैं। उसके चार प्रकार हैं—चक्षु दर्शन २. अचक्षु दर्शन ३. अवधि दर्शन ४. केवल दर्शन।

दर्शनमोहनीय (कर्म)—मोहनीयकर्म की वह अवस्था, जो आत्मा के श्रद्धा (सम्यक् दर्शन) को विकृत करती है।

ध्यान—एकाग्र चिंतन और योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) के निरोध को ध्यान कहते हैं। उसके चार प्रकार हैं—१. आर्त २. रौद्र ३. धर्म्य ४. शुक्ल।

निर्जरा—

० तपस्या के द्वारा कर्ममल का विच्छेद होने पर आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है, उसे निर्जरा कहते हैं।

० कारण को कार्य मानकर तपस्या को भी निर्जरा कहा गया है। उसके अनशन, ऊनोदरी आदि बारह भेद हैं।

सकाम और अकाम के रूप में वह दो प्रकार की भी होती है। ये दोनों प्रकार की निर्जरा सम्यक्त्वी एवं मिथ्यात्वी दोनों के होती है। देखें—सकाम निर्जरा, अकाम निर्जरा।

परीषह—साधु-चर्या को पालने के कारण उत्पन्न होने वाले कष्ट। वे बावीस प्रकार के होते हैं—१. क्षुधा २. पिपासा ३. शीत ४. उष्णता ५. मच्छर-दंश ६. अचेल ७. अरति-रति ८. स्त्री ९. चर्या १०. निषीधिका ११. शय्या १२. आक्रोश १३. वध १४. याचना १५. अलाभ १६. रोग १७. तृण-स्पर्श १८. मैल १९. सत्कार २०. प्रज्ञा २१. ज्ञान २२. दर्शन।

इनमें स्त्री और सत्कार—ये दोनों अनुकूल परीषह हैं। शेष बीस परीषह प्रतिकूल परीषह हैं।

पाप—प्राणी के अशुभ रूप में उदय आनेवाले कर्म पाप हैं। अशुभ कर्मों के बंधन का कारण असत् प्रवृत्ति है। उपचार से असत् प्रवृत्ति को भी पाप कहा गया है। प्राणातिपात, मृषावाद आदि उसके अठारह प्रकार हैं।

पाप रूप में उदय में आने से पूर्व बंध अवस्था में रहे अशुभ कर्मों को द्रव्य पाप तथा अशुभ रूप में उदय में आने पर उन्हें भाव पाप कहते हैं।

पुण्य—प्राणी के शुभ रूप में उदय आनेवाले कर्म पुण्य हैं। शुभ कर्मों के बंधन का हेतु सत्प्रवृत्ति है। सत्प्रवृत्ति से निर्जरा के साथ आनुषंगिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप में शुभ कर्मों का बंधन होता है। उपचार से सत् प्रवृत्ति को भी पुण्य कहा गया है। अन्न, पान आदि उसके नौ प्रकार बताए गए हैं।

पुद्गल—जो द्रव्य स्पर्श, रस, गंध और वर्ण युक्त होता है, वह पुद्गल है। लोक के सभी मूर्त/दृश्य पदार्थ पुद्गल ही है। सामान्य भाषा में उसे भौतिक तत्त्व या जड़ पदार्थ कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से सभी प्रकार की भौतिक ऊर्जा एवं भौतिक पदार्थों का समावेश पुद्गल में होता है।

प्रतिसंलीनता—इन्द्रिय, मन आदि की बहिर्मुखी प्रवृत्ति का प्रतिसंहरण करना अथवा उसे अन्तर्मुखी करना प्रतिसंलीनता है।

बंध—आत्मा द्वारा कर्मपुद्गलों का संग्रहण और परस्पर दूध और घी की तरह एकीभूत संबंध बंध है। बंध के चार प्रकार हैं—१. प्रकृति २. स्थिति ३. अनुभाग ४. प्रदेश।

भिक्षाचरी—विविध प्रकार के अभिग्रहों (प्रतिज्ञाओं) से वृत्ति—खान-पान का संक्षेप करना भिक्षाचरी है। इसे वृत्तिसंक्षेप भी कहते हैं।

मनःपर्यवज्ञानी—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना आत्मा के द्वारा मनोद्रव्य की विभिन्न पर्यायों का जो साक्षात् ज्ञान किया जाता है, उसे मनःपर्यवज्ञान कहते हैं। इसके द्वारा समनस्क (मनसम्पन्न) जीव की विभिन्न मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान होता है। इस ज्ञान को मात्र संयमी (साधु) को ही हो सकता है। इस ज्ञान से संपन्न व्यक्ति को मनःपर्यवज्ञानी कहा जाता है।

महा आरंभ—तीव्र लालसा के कारण अमर्यादित रूप में क्रूरतापूर्ण हिंसा में प्रवृत्त होना।

महा परिग्रह—तीव्र लालसा के कारण अमर्यादित रूप में अशुद्ध साधनों से संग्रह में प्रवृत्त होना।

महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचों व्रतों का पूर्ण/अखंडित रूप।

मन, वचन और काया से कृत, कारित और अनुमोदन-वर्जन के साथ अहिंसा आदि का पालन करना पूर्ण/अखंडित का सीमा-क्षेत्र है।

मिथ्यात्वी—जो तत्त्व जिस रूप में है, उसे उससे विपरीत रूप में समझना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों (मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय) एवं चारित्रमोहनीय की चार प्रकृतियों (अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ) के उदय से निष्पन्न होता है। दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय मोहनीय कर्म के ही दो भेद हैं। देखें—मोहनीय कर्म, दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो प्राणी मिथ्यात्व से ग्रस्त होता है, यानी जिसकी श्रद्धा/समझ असम्यक्/विपरीत है, वह मिथ्यात्वी है।

मिथ्यादृष्टि—देखें मिथ्यात्वी।

मोक्ष—चेतना का वह चरम विकास-स्तर, जहां पूर्व समस्त कर्मों का बंधन क्षीण हो जाता है और नये बंधन की प्रक्रिया बिलकुल बन्द हो जाती है।

मोहकर्म, मोहनीय कर्म—प्राणी के दर्शन (श्रद्धा) और चारित्र (आचार) को विकृत करनेवाले कर्म को मोहकर्म या मोहनीय कर्म कहते हैं।

मोहनीय कर्म की मुख्य दो प्रकृतियां हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय।

दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियां हैं—१. सम्यक्त्वमोहनीय २. मिथ्यात्वमोहनीय ३. मिश्रमोहनीय।

चारित्रमोहनीय की पचीस प्रकृतियां हैं—१. अनंतानुबन्धी क्रोध २. अनंतानुबंधी मान ३. अनंतानुबंधी माया ४. अनंतानुबंधी लोभ ५. अप्रत्याख्यान क्रोध ६. अप्रत्याख्यान मान ७. अप्रत्याख्यान माया ८. अप्रत्याख्यान लोभ ९. प्रत्याख्यान क्रोध १०. प्रत्याख्यान मान ११. प्रत्याख्यान माया १२. प्रत्याख्यान लोभ १३. संज्वलन क्रोध १४. संज्वलन मान १५. संज्वलन माया १६. संज्वलन लोभ १७. हास्य १८. रति १९. अरति २०. भय २१. शोक २२. जुगुप्सा २३. स्त्रीवेद २४. पुरुषवेद २५. नपुंसकवेद।

रस-परित्याग—विकृतियों के त्याग को रस-परित्याग कहते हैं। दूध, दही, घी आदि को विकृति कहा जाता है।

लोक—अनंत आकाश के षड्द्रव्यात्मक भाग को लोक कहते हैं। उसके तीन भाग हैं—ऊंचा लोक, नीचा लोक और तिरछा लोक। तिरछा लोक को मध्य लोक भी कहते हैं।

विनय—आशातना (असद् व्यवहार) न करना तथा बहुमान करना विनय है। ज्ञानविनय, दर्शनविनय आदि उसके सात प्रकार हैं। विनय से ज्ञान, दर्शन व चारित्र की विशेष निर्मलता होती है तथा मन, वचन और काया की पवित्रता सधती है।

वीतराग—राग-द्वेष से मुक्त आत्मा को वीतराग कहते हैं। वीतराग ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

वैयावृत्य—दूसरों को सहयोग करने की भावना से सेवा-कार्य में जुटना वैयावृत्य है। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर आदि उसके दस स्थान हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्युत्सर्ग—शरीर, कषाय आदि का विसर्जन करना व्युत्सर्ग है।

शरीर व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग), गण व्युत्सर्ग और भक्तपान व्युत्सर्ग द्रव्य व्युत्सर्ग है। कषाय, संसार और कर्म का विसर्जन भाव व्युत्सर्ग है।

व्रत संवर—पापकारी वृत्ति और अन्तर्लालसा—इन दोनों को सावद्यवृत्ति कहा जाता है। इनका त्याग करना व्रत (विरत) संवर है। यह छठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में होता है।

शुभ योग—मन, वचन और काया की सत् प्रवृत्ति को शुभ योग कहते हैं। शुभ योग से अनिवार्य रूप से निर्जरा होती है। आनुषंगिक फल के रूप में शुभ कर्म (द्रव्य पुण्य) का बंध होता है। देखें—निर्जरा। प्रथम गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक शुभ योग की प्राप्ति है। देखें—गुणस्थान।

श्रावक—हिंसा, असत्य आदि सावद्य—पापकारी प्रवृत्ति का आंशिक त्याग करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव श्रावक कहलाता है। श्रावक पांचवें गुणस्थान में अवस्थित होता है। देखें—गुणस्थान।

श्रावक के व्रत (बारह व्रत)—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के रूप में श्रावक के निम्न बारह व्रत बताए गए हैं—

पांच अणुव्रत—१. अहिंसा अणुव्रत २. सत्य अणुव्रत ३. अचौर्य अणुव्रत ४. ब्रह्मचर्य अणुव्रत ५. अपरिग्रह अणुव्रत।

तीन गुणव्रत—१. दिग्परिमाण व्रत २. उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत ३. अनर्थदण्डविरमण व्रत।

चार शिक्षाव्रत—१. सामायिक व्रत २. देशावकाशिक व्रत ३. पौषधोपवास व्रत ४. यथासंविभाग व्रत।

संवर—कर्म-आकर्षण में हेतुभूत आत्म-परिणाम को आश्रव कहते हैं। आश्रव के निरोध को संवर कहा जाता है। उसके पांच भेद हैं—१. सम्यक्त्व २. व्रत (विरति) ३. अप्रमाद ४. अकषाय ५. अयोग।

सकाम निर्जरा—मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से की जानेवाली निर्जरा सकाम निर्जरा है। देखें—निर्जरा, देखें—अकाम निर्जरा।

सम्यक्त्व संवर—यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि नौ तत्त्वों के बारे में यथार्थ श्रद्धा का होना और अयथार्थ श्रद्धा का त्याग करना सम्यक्त्व संवर है।

साधु—पूर्ण संयमी/पूर्ण व्रती—महाव्रती को साधु कहते हैं। नमोक्कार मंत्र (नमस्कार महामंत्र) का पांचवां पद उनके लिए प्रयुक्त है। देखें—महाव्रत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छठे से चौदहवें तक सभी गुणस्थान साधु के हैं। देखें—गुण-स्थान।

सिद्ध—जिसके ज्ञान, दर्शन व शक्ति पूर्ण अनावृत हो जाते हैं, मोह क्षीण हो जाता है एवं देह छूट जाता है, उस आत्मा को सिद्ध कहते हैं। नमोक्कार मंत्र (नमस्कार महामंत्र) का दूसरा पद उनके लिए प्रयुक्त है। यह स्थिति सभी गुणस्थानों को पार कर देने के बाद उपलब्ध होती है। देखें—गुणस्थान।

स्वाध्याय—श्रुत—अध्यात्म शास्त्र के अध्ययन को स्वाध्याय कहा जाता है। स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं—१. वाचना २. पृच्छना ३. परिवर्तना ४. अनुप्रेक्षा ५. धर्मकथा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेरक वचन

- समाधिमय जीवन जीने से बढ़कर और क्या उपलब्धि हो सकती है। (१)
- दुःखों से आत्यन्तिक मुक्ति या उनके सम्पूर्ण विच्छेद का नाम मोक्ष है। (३)
- मानव-जीवन ही वह साधन है, जिससे मोक्ष तक की साधना की जा सकती है। (३)
- संयम ही सच्चा जीवन है। (३)
- संयम जीवन की मर्यादा है। (३)
- संयम के बिना नीतियां निरंकुश हो जाएंगी। जीवन-क्रम अस्त-व्यस्त हो जाएगा। राजनीति दूषित बन जाएगी। (३)
- जहां भोग का त्याग हो, उन्माद का त्याग हो, आवेग का त्याग हो, वहां अहिंसा होती है। इसलिए अहिंसा की आत्मा त्याग में है। (५)
- अहिंसा उपदेश की वस्तु नहीं है। वह जीवन का आचार-धर्म है। (५)
- अपने भविष्य के निर्माता हम स्वयं ही हैं। हम चाहें तो अपने भविष्य को बना/संवार भी सकते हैं और चाहें तो नष्ट भी कर सकते हैं। (६)
- धर्म-तत्व सभी धार्मिक ग्रन्थों में मिलते हैं। पर उन तत्वों पर व्यक्तिगत या सम्प्रदायविशेष का अधिकार नहीं होता। वे व्यापक होते हैं। (८)
- जीवन की पवित्रता का साधन जो है, वही धर्म है। (९)
- जब ज्ञान और विश्वास सम्यक् होंगे तो आचरण भी सम्यक् होगा। (९)
- केवल न खाना ही तपस्या नहीं है। खाने में संयम करना भी तपस्या है, बल्कि बड़ी तपस्या है। (१०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- अनुकूल संयोग की स्थिति में मन को वश में रखना बहुत कठिन कार्य है। (१०)
- तपस्या का मर्म वही पा सकता है, जो प्रतिस्रोत में चले। (११,१२)
- तपस्या आदि धर्म कोई भी क्यों न करे, वह मोक्ष-साधक ही है। धर्म का अधिकार नास्तिक को भी है। (१२)
- धर्म सर्वजनहिताय है, सर्वजनसुखाय है और आकाश की तरह व्यापक है। भले उसे कोई अफीम कहे, पर इससे उसकी गुणात्मकता और व्यापकता में कहीं कोई अन्तर नहीं आ सकता। (१२)
- अनाज का दुर्भिक्ष होने पर उसकी पूर्ति हो सकती है। दूसरे स्थानों से आयात किया जा सकता है। परन्तु नैतिकता का आयात नहीं होता। (१३)
- मनुष्य समाज-सुधार, प्रदेश-सुधार और राष्ट्र-सुधार करने से पहले स्व-सुधार न भूल जाए। (१३)
- बिना संकल्प का मन बिना ब्रेक की मोटर के समान है। (१४)
- जो अच्छाई को फैलाना चाहे, वह सबसे पहले स्वयं उसके अनुकूल आचरण करे। (१५)
- व्यक्ति-व्यक्ति के सुधार से समाज, राष्ट्र और विश्व के सुधार का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो जायेगा। (१५)
- अणुव्रत के नियमों को ग्रहण करने का मतलब गृहत्यागी बनना नहीं है। इसका तो मतलब है कि व्यक्ति जहां कहीं भी रहे, वह वहां के वातावरण को स्वस्थ और चरित्रयुक्त रखे। कम-से-कम अपना आचरण तो अवश्य ही पवित्र रखे। (१६)
- संगठन की स्थिरता के लिए विचारों का ऐक्य नितान्त आवश्यक है। बिना ऐक्य के केवल संगठन करना बालू की नींव पर मकान खड़ा करना है। (१७)
- जिस प्रवृत्ति से हम मोक्ष के निकट जाते हैं, वह धर्म है और जिससे बन्धन के निकट जाते हैं, वह अधर्म है। (२२)
- धर्म और कर्तव्य में अन्तर है। धर्म कर्तव्य है, लेकिन सभी कर्तव्य धर्म नहीं हैं। कर्तव्य देश, काल, परिस्थिति के अनुसार बदल सकते हैं, लेकिन धर्म सर्वदा सर्वत्र एक ही रहता है। (२२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- धर्म का कार्य है मांजना। वह जीवन को मांजता है। जो अपने जीवन को मांजना चाहें, वे धर्म को पहचानें और उसका प्रारम्भ अपने जीवन से करें। निश्चित ही वे अपने जीवन के निखरे रूप से साक्षात्कार कर सकेंगे। (२२)
- विश्व-शांति का मौलिक आधार है—वैयक्तिक शांति। इसके अभाव में हजार प्रयत्न करने पर भी विश्व-शांति फलित नहीं हो सकती। (२३)
- हिंसा की जड़ विलासिता, ऐश्वर्य और अधिकार में है। (२३)
- एक की या थोड़े-से लोगों की हिंसा पूरी दुनिया को संकट में डाल देती है। इसलिए बढ़ते हुए हिंसा के प्रवाह को हर स्थिति में रोका जाना चाहिए। (२४)
- विश्वास आचरण से पैदा होता है। उसे लेख और वक्तव्य से पैदा नहीं किया जा सकता। (२४)
- सपनों की दुनिया में जो जाकर भी जो सपने का नहीं बनता, वही वास्तविक व्यक्ति है। (२५)
- विलास की जिन्दगी बितानेवाले कभी भी शांति को नहीं छू सकते। (२५)
- गरीबी की अभावात्मक स्थिति और अमीरी की अति भावात्मक स्थिति से परे जो त्याग या संयम है, इच्छाओं और वासनाओं की विजय है, वही भारतीय जीवन का मौलिक स्वरूप है। (२५)
- संतोष और शांति की प्राप्ति का साधन है—व्रत या संयम। (२५)
- व्रती समाज की कल्पना जितनी दुरूह है, उतनी ही सुखद है। व्रत लेने वाला कोरा व्रत ही नहीं लेता। पहले अपने विवेक को जगाता है, श्रद्धा और संकल्प को दृढ़ करता है, कठिनाइयों को झेलने की क्षमता पैदा करता है, प्रवाह के प्रतिकूल चलने का धीरज लाता है और फिर वह व्रत लेता है। (२५)
- बाहर का अनुशासन विजातीय अनुशासन है। (२५)
- नियमानुवर्तिता व मर्यादा के बिना स्वतंत्रता नहीं आती। (२५)
- तपस्वी और संयमी जीवन ही उत्तम जीवन है। (२६)
- सादगी और सरलता गरीबी की उच्चता नहीं है, किंतु त्याग की महिमा है। (२६)
- भोग-प्रधान जगत् में द्वन्द्व ही परम पुरुषार्थ है और आत्म-प्रधान जगत् में आत्मिक शांति। (२६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- मनुष्य को भूख इतनी नहीं सताती, जितनी लोलुपता सताती है, असंयम सताता है। (२७)
- आचारशून्य विद्या मनुष्य के लिए वरदान नहीं बन पाती। (३०)
- व्रत के दर्शन में रोग का मूल भोग-वृत्ति है, शोषण और संग्रह नहीं। जब तक भोग-वृत्ति न्यून नहीं होती है, तब तक न शोषण मिट सकता है और न संग्रह ही। (३१)
- व्रती बनने के बाद इच्छाएं सीमित नहीं होतीं, बल्कि जब इच्छाएं सीमित हो जाती हैं, तभी व्यक्ति व्रती बनता है। (३१)
- सत्ता से नियंत्रित व्यक्ति जड़ बन जाता है। उसे संग्रह-त्याग में वह आनन्द नहीं आता, जो आत्म-नियमन करनेवाले व्रती को आ सकता है। (३१)
- सत्य से बढ़कर कोई दूसरा भगवान नहीं हो सकता। (३२)
- मेधावी और पंडित वह है, जो सत्य की उपासना करता है। (३२)
- सत्य की भक्ति, पूजा और उपासना का कार्य सहज नहीं है, बहुत कठिन है। उसमें अखूट आत्मशक्ति और एकान्त आत्मार्थीवृत्ति अपेक्षित होती है। (३२)
- सत्य पर अडिग रहना, उसका अनुसरण करना एकांत हित की बात है। उससे कभी अहित हो ही नहीं सकता। (३२-३३)
- सबसे बड़ा विज्ञान अहिंसा का सिद्धान्त है। (३४)
- जिसमें अहिंसा नहीं, वह विज्ञान नहीं। (३४)
- विज्ञान वह है, जो जीवन को सही दिशा दे, जीवन को पवित्र और ऊंचा उठाए, अहिंसक जीवन जीना सिखाये। (३४)
- भारतीय संस्कृति के माने होगा—ऊंची संस्कृति, त्याग की संस्कृति, संयम की संस्कृति और अध्यात्म की संस्कृति। (३५)
- यदि मनुष्य को सुख-शान्ति से जीना है, तो उसे त्याग और संयम का जीवन अपनाना होगा। (३६)
- विश्वास का आधार है—मैत्री। (३७)
- मित्र से कोई भय नहीं होता। (३७)
- जहां अभय है, विश्वास है, वहां शांति को कोई खतरा नहीं होता। (३७)
- शान्ति का मार्ग संयम है। उसका दूसरा कोई विकल्प नहीं है। (३९)
- यदि मानव-समाज में सत्य नही रहे तो समाज कभी का छिन्न-भिन्न हो जाएगा। (४०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- सत्य और अहिंसा केवल आध्यात्मिक तत्त्व ही नहीं हैं, दैनिक व्यवहार में भी उनकी नितान्त आवश्यकता है। (४०)
- विरक्त वह है, जो प्राप्त भोगों को स्ववशता में ठुकरा देता है। (४७)
- जो विरक्त है, वही ज्ञानी है। (४७)
- केवल शास्त्रों को पढ़ लेने मात्र से कोई विद्वान् नहीं बन जाता। (४८)
- प्रशंसा कांटों का ताज है। जिस व्यक्ति के सिर पर यह ताज रखा जाता है, उसे बहुत सोच-समझकर चलना पड़ता है। (४९)
- गुणीजनों की प्रमोद-भाव से प्रशंसा करना व्यक्ति के लिए श्रेय-पथ है। (४९)
- प्रशंसा सुनकर यदि व्यक्ति उसमें लुब्ध बन जाता है, अहंकारग्रस्त हो जाता है तो उसका पतन अवश्यंभावी है। (४९)
- प्रशंसा करना और सुनना—दोनों ही दोष नहीं हैं। दोष है उसमें आसक्त होना। (५०)
- साधक आलोचना और विरोध में भी समत्व में अवस्थित रहने का प्रयास करे। उसे सुन-देखकर रोष-आक्रोश तो करे ही नहीं, मन में हीन भावना भी न लाए। (५०)
- यदि तटस्थ दृष्टि से दोष-दर्शन और आलोचना होती है तो कोई अनुचित बात नहीं है। (५१)
- साधक हर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में सम रहे, अपना संतुलन न खोए। इसीमें उसकी साधना सुरक्षित है। (५१)
- संकीर्णता स्थान से नहीं, हृदय से आती है। (५२)
- किसी समाज या सम्प्रदायविशेष में रहने मात्र से व्यक्ति को संकीर्ण या संकुचित नहीं मानना चाहिए, जबकि उसके विचार उदार हैं, दृष्टिकोण व्यापक है, असाम्प्रदायिक है। (५३)
- तेरापंथ संघ या सम्प्रदाय की सीमाएं मेरे सत्य-दर्शन में कहीं बाधक नहीं हैं। (५३)
- उपदेश देना मेरा कर्तव्य मात्र है, व्यवसाय नहीं है। कर्तव्य और व्यवसाय में एक मौलिक अन्तर है। व्यवसाय करना पड़ता है, जबकि कर्तव्य आत्म-प्रेरणा से सहज किया जाता है। (५४)
- यदि व्यक्ति निष्ठापूर्वक कर्तव्यरत रहता है तो उसका अनुकूल परिणाम आना अवश्यंभावी है। (५५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- कर्तव्य-पालन में प्रसन्नता एवं आत्मतोष की अनुभूति होती है। (५६)
- सुख का हेतु अभाव भी नही है, अति-भाव भी नही है। सुख का हेतु स्वभाव है। (५७)
- जो नहीं होना चाहिए, उसके निवारण की क्षमता त्याग या व्रत में है। (५८)
- सुख का हेतु अहिंसा या मैत्री है। (५८)
- जो व्यक्ति दूसरों के स्व का कभी हरण नहीं करता, वह सबका मित्र है। (५८)
- वही बोलना सही माने में बोलना है, जिसमें कुछ सार है, संयम का संदेश है, जन-जीवन के लिए मार्ग-दर्शन है। (५९)
- बड़ी-से-बड़ी किसी शारीरिक बीमारी से भी अधिक घातक है फैशन की बीमारी। (६०)
- लाखों व्यक्तियों पर अनुशासन करना फिर भी सरल है, पर अपने इन दो कानों और दो आंखों पर अनुशासन करना कठिन है। (६१)
- करोड़ों व्यक्तियों को जीतना फिर भी सरल है, पर अपने एक मन को जीतना कठिन है। (६१)
- करोड़ों-अरबों की धन-संपत्ति का स्वामी होना उतना कठिन नहीं है, जितना संयम से संपन्न होना है, चरित्र से संपन्न होना है। (६१)
- करोड़पति-अरबपति होकर भी वह महादारद्र है, जो संयम और चरित्र से रहित जीवन जीता है। (६१)
- जीवन का सच्चा मूल्य धन-वैभव नहीं, त्याग है। (६१)
- महानता की कसौटी सत्ता नहीं, चरित्र है। (६१)
- मनुष्य का अंकन सुख-सुविधा की साधन-सामग्री से नहीं, संयम और सदाचार से होता है। (६१)
- नव-निर्माण के लिए शांति, समन्वय और सहृदयता की अपेक्षा है, आपसी विरोध की नहीं। (६४)
- अभाव एवं परिस्थितियों को बुराइयों का ऐकान्तिक कारण नहीं माना जा सकता। (६५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

› अध्यात्म-आधारित नीति व धर्म के परिणाम कभी भी बुरे नहीं आ सकते, जबकि राष्ट्रीयता पर आधारित धर्म और नीति के परिणाम बहुत बार अच्छे नहीं भी होते। राष्ट्रीयता कभी-कभी अतिराष्ट्रीयता में परिणत होकर संसार के लिए घातक हो सकती है। (६७)

› निराशा किसी भी समस्या का समाधान नहीं है। (६८)

› श्रद्धाशून्य ज्ञान व्यक्ति को मंजिल तक नहीं पहुंचा सकता। (६९)

› चलते सब हैं, पर सच्चा चलना उन्हीं का है, जो दूसरों के लिये पगडंडी बन जाये। बोलते सब हैं, पर बोलना उन्हीं का है, जिससे दूसरे प्रेरणा पायें। (७५)

◦ व्रत एक कवच है, जिसे पहनकर मनुष्य कहीं भी चला जाए, वह उसकी बुराइयों से रक्षा करने में समर्थ है। (७७)

◦ मनुष्य बुराई करता है, यह उसकी कमजोरी है। पर बुराई को अच्छा मानना, उसका प्रचार करना तो बहुत बुरा है, बल्कि सर्वाधिक बुरा है। (७९)

◦ मिथ्यात्व सब पापों की जड़ है, नींव है और मूलभूत कारण है। (७९)

◦ शांति का मार्ग संयम है, आत्म-नियन्त्रण है, अपने द्वारा अपना अनुशासन है। यही धर्म का विशुद्ध रूप है। ऐसा धर्म सम्प्रदायवाद से परे है। जाति, रंग और लिंग के बन्धनों से मुक्त है। राजनीति के रंगमंच से दूर है। (८१)

◦ युद्ध की भावना राष्ट्र से नहीं, व्यक्ति के उर्वर मस्तिष्क से निकलती है। (८२)

◦ दुर्व्यसन जीवन के लिए अभिशाप है। (८६)

◦ भविष्य की कल्पना में वर्तमान की उपेक्षा कर देना धर्म का लक्षण नहीं है। (८७)

◦ परिस्थितियों के आगे घुटने टेकना मानव की घोर पराजय है। (९३)

◦ ऋजुता का अर्थ झुकना नहीं है। वह तो आत्मा की खुशबू है, गुण है। (९५)

◦ शांति का साधन भौतिक पदार्थ नहीं, अपितु अहिंसा या समता है। (९९)

◦ अहिंसा का अर्थ है स्वयं निर्भय होना और दूसरों को अभयदान देना। (९९)

◦ अभयदान से बढ़कर कोई दान नहीं है। (९९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- दूसरों को भयमुक्त वही बना सकता है, जो स्वयं अभय होता है। (९९)
- अर्थ-संग्रह पाप है, चाहे किसी भी स्तर पर क्यों न हो। (१००)
- समाजगत संग्रह और राष्ट्रगत संग्रह भी व्यक्तिगत संग्रह की तरह दोषपूर्ण हैं। (१०१)
- समाजगत संग्रह समाज में अनेक प्रकार की बुराइयों को जन्म देता है। (१०१)
- राष्ट्र भी अनावश्यक अति-संग्रह से क्रूर बनता है। क्रूर आक्रांता बनता है। आक्रांता संग्रह करता है। (१०१)
- धन का शांति से सम्बन्ध नहीं है, दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। (१०१)
- शांति का एकमात्र साधन है—आत्म-संयम। आत्म-संयम का अर्थ है—अपने द्वारा अपने लिए अपना नियंत्रण। (१०१)
- नियंत्रण मात्र अच्छा नहीं है। केवल आत्म-नियंत्रण या आत्म-संयम अच्छा है। (१०१)
- सुख की चाह रखने वाले हर व्यक्ति को आत्म-संयम का अभ्यास करना चाहिए। (१०२)
- बुराइयों से संघर्ष करना किसी युगविशेष की अपेक्षा नहीं, अपितु यह एक अनवरत चलनेवाली प्रक्रिया है। (१०३)
- संकल्प जीवन के रूपान्तरण और विकास का एक महत्वपूर्ण सूत्र है। (१०४)
- यदि स्वीकृत संकल्प के प्रति व्यक्ति दृढनिष्ठ रहता है तो उसका एक छोटा-सा संकल्प भी उसकी संपूर्ण जीवन-धारा को मोड़ सकता है। (१०४)
- शक्ति शक्ति ही होती है। उसका उपयोग सत् के रूप में भी हो सकता है और असत् के रूप में भी। भला आदमी जहां उसे सत् के रूप में काम लेता है, वहीं बुरा आदमी उसे असत् के रूप में। (१०८)
- यह कैसी बात है कि व्यक्ति दूसरों के दोष देखने के लिए तो सहस्राक्ष बन जाता है पर अपने दोष देखते वक्त दोनों आंखों को भी मूंद लेता है। (१०९)
- व्यक्ति-निर्माण के बिना समाज-निर्माण कठिन ही नहीं, असंभव भी है। (१०९)
- जितना कार्य एक निर्मित कार्यकर्ता कर सकता है, उतना कार्य करोड़ों रुपये खर्च करने पर भी नहीं हो सकता। (१०९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- समाज-कल्याण और राष्ट्र-निर्माण के लिए संयम को सर्वोच्च प्रतिष्ठा देनी होगी। (११०)
- बड़ा वही है, जो संयमी है। (११०)
- जो जितना बड़ा त्यागी है, वह उतना ही बड़ा है। (११०)
- अणुव्रत की चिकित्सा अपने-आप में विचक्षण है, अद्भुत है। क्यों? इसलिए कि वह व्यक्ति-व्यक्ति में व्याप्त बुराइयों एवं अनैतिकता की चिकित्सा कर समाज को स्वस्थता प्रदान करता है। (१११)
- सुख है अपने-आप में, अपनी वृत्तियों में, संतोष में। धन में, खाने-पीने में और ऐश-आराम में सुख खोजना नासमझी है। (११३)
- दूसरों के सुखों को लूट कर सुखी बनने की बात निरी भ्रान्ति है। (११३)
- नदी में स्नान करने से शरीर का मैल धुल सकता है, पाप नहीं। (११३)
- यह सोच एक निरी भ्रान्ति है कि परमात्मा व्यक्ति को सुखी और दुःखी बनाता है। वह तो मात्र द्रष्टा है, सबको समदृष्टि से देखता है। (११५)
- अपना भाग्य-विधाता, सुख-दुःख का कर्ता व्यक्ति स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं। (११५)
- अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है। महादोषों का स्रोत है। (११८)
- जो साधक दृष्टि-संयम नहीं रख पाता, उसका ब्रह्मचर्य कभी भी खंडित हो सकता है। (१२१)
- अन्न के अभाव में कोई मर जाए, यह विवशता की स्थिति है। पर अधिक खाकर मरे, यह मूर्खता है, प्रथम कोटि की मूर्खता है। (१२४)
- अपरिग्रह का अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति गरीब बन जाए। उसका सही अर्थ है—धन के प्रति अमूर्च्छा, अर्थ-संग्रह के प्रति अनाकर्षण। (१२९)
- धन का न होना गरीबी नहीं है, अपितु धन के प्रति मूर्च्छा, धन-संग्रह के प्रति आकर्षण का भाव गरीबी है। (१२९)
- धन के अभाव में व्यक्ति गरीब नहीं है, अपितु गरीब वह है, जो धन के लिए हाय-हाय करे। सबसे बड़ा गरीब वह है, जो करोड़ों-अरबों का धन होने के उपरांत भी पैसे-पैसे के लिए बेतहाशा दौड़ता रहे, जीवन की शांति दांव पर लगा दे। (१२९)
- अनुकूल सामग्री के संयोग के अभाव में भोग-विलास न करना ब्रह्मचर्य नहीं, बल्कि संयोग में संयम रखना ब्रह्मचर्य है। (१३४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- युग बदलते रहते हैं, युग-युग में लोगों का चिंतन बदलता रहता है, पर शाश्वत साधना कभी नहीं बदलती। (१३९)
- विवेक के बिना बोला गया सत्य बहुधा असत्य से भी ज्यादा हानिप्रद हो जाता है। (१४२)
- स्पष्टवादी होना कोई बुरी बात नहीं हैं, पर उसकी मर्यादा यह है कि वह विवेक से अनुशासित हो। यदि कोई इस मर्यादा का अतिक्रमण कर स्पष्टवादिता के नाम पर किसी का मर्मोद्घाटन करता है तो वह सत्य असत्य से ज्यादा भयंकर है। (१४४)
- जहां सरलता है, ऋजुता है, वहां सत्य है। ऋजुता और सत्य दोनों एक ही हैं, पर्यायवाची हैं। सत्य का व्यापक रूप ही ऋजुता है। (१४४)
- दृढ निष्ठावान् व्यक्ति ही साधना में सफल हो पाता है। (१४५)
- संकल्प के बिना निष्ठा घनीभूत नहीं होती। (१४५)
- सम्प्रदाय पृथक्-पृथक् हो सकते हैं, विचारों में परस्पर मतभेद भी हो सकता है, पर इस कारण आपस में झगड़ना, एक-दूसरे पर छींटाकशी करना, एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करना कहां तक उचित है। (१४६)
- साम्प्रदायिक भावनाओं को प्रश्रय देने वाले सम्प्रदायों का भविष्य उज्ज्वल नहीं है, बल्कि कहना चाहिए, अंधकारमय है, असुरक्षित है। (१४६)
- किताबी शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है, वास्तविक शिक्षा तो जीवन से मिलती है। (१५१)
- सैनिक शासन तत्काल लाभकारी जान पड़ता है, पर वस्तुतः वह अच्छा नहीं है। वह जनता की अयोग्यता का सूचक है। (१५७)
- धर्म एक रथ है। आचार और विचार उसके दो पहिए हैं। रथ की सुदृढ़ता और कार्यवाहकता बनाए रखने के लिए यह अपेक्षित है कि उसके दोनों पहिए मजबूत हों। (१५८)
- जीवन का सर्व-सुखद पक्ष है—चरित्र। उसकी विकास-भूमि है—क्षमा। उसका परिणाम है—मैत्री। (१६१)
- असहिष्णुता से वैर बढता है। वैर चरित्र का विकार है और उससे सुख-शांति की रेखा क्षीण हो जाती है। (१६१)
- मानवीय विचारणा का सर्वोपरि मृदु और मधुर परिपाक शांति है। (१६१)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- वह सही मार्ग कैसे दिखा सकता है, जो स्वयं ही गुमराह है। सही मार्ग तो वही दिखा सकता है, जो मार्ग का जानकार हो। (१६३)
- आत्मा की उपासना ही परमात्मा की उपासना है। (१६४)
- जिसने आत्मा की उपासना कर ली, उसने अप्रत्यक्ष रूप से परमात्मा की उपासना कर ली। (१६४)
- भगवान से साक्षात्कार की तमन्ना है तो आत्म-दर्शन करें। आत्म-दर्शन करते-करते परमात्म-दर्शन स्वयं हो जाएगा। (१६४)
- वर्तमान को बिगाड़कर परलोक सुधारने वाला धर्म मेरी दृष्टि में बासी धर्म है, उधार धर्म है। ऐसा तथाकथित धर्म हमारे किस काम का। हमें तो नगद धर्म चाहिए। जब भी उस धर्म की आराधना करें, हमारा सुधार हो, हमें शांति की अनुभूति हो, आनन्द की प्राप्ति हो। वह नकद धर्म है—जीवन में विचार और आचार की पवित्रता। तपस्या, त्याग, संयम और दुष्प्रवृत्तियों से विरति। ऐसे धर्म से परलोक तो सुधरेगा-ही-सुधरेगा। इसमें संदेह करने की कोई गुंजाइश ही नहीं है। (१६५)
- हिंसा अन्ततः हिंसा ही है। भले वह अहिंसा की रक्षा के बहाने हो अथवा किसी अन्य नाम पर। (१६९)
- अहिंसा और कर्त्तव्य दो अलग-अलग तत्व हैं। कहीं-कहीं दोनों मिल अवश्य जाते हैं, फिर भी दोनों एक नहीं हैं। (१६९)
- ह्रास को रोके बिना विकास कभी भी सम्भव नहीं है। (१७२)
- दूसरों के द्वारा थोपा हुआ नियंत्रण व्यक्ति के लिए भार हो सकता है। इसलिए वह धर्म नहीं है। धर्म का किसी पर भार नहीं होता। इसीलिए अपने द्वारा किया हुआ अपना नियन्त्रण ही धर्म है।(१८१)
- प्रकृति के संतुलन में मनुष्य के संतुलन का भी एक सीमा तक प्रभाव पड़ सकता है। आज मनुष्य ने अपना संयम खो दिया है तो प्रकृति भी इस प्रभाव से मुक्त कैसे रह सकती है। (१८३)
- कार्यकर्ताओं पर दोहरी जिम्मेवारी है। पहले वे स्वयं सुधरें और फिर दूसरे लोगों को सुधारने की चेष्टा करें। (१८४)
- संयमी, श्रद्धालु और तपोनिष्ठ कार्यकर्ता ही युग को मोड़ दे सकते हैं। (१८४)
- मैं परिस्थितिवाद का घोर विरोधी हूं। सारे दांत गिर जाने पर सुपारी न खाने और मृत्यु-शय्या पर सोकर ब्रह्मचारी बनने की बातें जैसे हास्यास्पद हैं, वैसे ही परिस्थितियां अनुकूल होने पर नैतिक विकास करने की बात भी हास्यास्पद है। (१८६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- अनुभव सत्य का निचोड़ है। (१८६)
- परिस्थितियों के सामने घुटने टेकने वाला गिरता है और उनसे लड़ने वाला उठता है, आगे बढ़ता है। (१८६)
- संयम की प्रेरणा वे ही दे सकते हैं, जो स्वयं संयत हों। (१८८)
- छोटों के दिल में भ्रांति का बीज बड़ों के असंयम ने ही तो बोया है। (१८८)
- व्यवस्था और अहिंसा के परिणामों को एक तुला से तोलना अपने-आप में बड़ी भूल है। (१८८)
- समाज के मुखिया यदि सामूहिक हित की व्यवस्था और अहिंसा में विश्वास रखने वाले संयम के माध्यम से समाज को बदलना चाहें तो वैयक्तिक स्वार्थ और रक्त-क्रांति दोनों प्रयोजनशून्य बन जाते हैं। (१९०)
- परिस्थिति के आवश्यक संशोधन में मुझे कोई आपत्ति नहीं है, पर उसके प्रभाव से मुक्ति तभी संभव है, जब व्यक्ति में उसे जीतने की क्षमता उत्पन्न होगी। (१९०)
- ज्ञान, श्रद्धा, भक्ति और शांति इन चार तत्वों से मिलकर मानव-जीवन बनता है, मानव मानव बनता है। (१९३)
- सबसे पहले मैं एक मानव हूं। उसके बाद धार्मिक हूं। तत्पश्चात् जैन और अन्त में तेरापंथी हूं। अतः मेरा सबसे पहला विश्वास मानवता में है। (१९३)
- मानवता में कोई भेद नहीं होता। वह मेरे, आपके, सबके लिए समान रूप से ग्राह्य होनी चाहिए। (१९३)
- निःसंशय होकर कार्य करने वाला ही सफलता का वरण कर सकता है। (१९५)
- जीवन-निर्माण से बढ़कर और कोई बुनियादी कार्य क्या हो सकता है। (१९५)
- अशांति की जड़ है—हिंसा। जड़ में जब हिंसा है, दुर्भावना है, द्वेष है, तब ऊपर अहिंसा, सद्भावना और प्रेम कैसे आ सकता है। (१९८)
- जहां संग्रह लक्ष्य बन जाता है, वहां अर्थार्जन में जायज-नाजायज का विवेक नहीं रह सकता। (२०४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- जब तक बहनों में जागृति नहीं आयेगी, उनका सुधार नहीं होगा, तब तक देश का सुधार होना संभव नहीं है। (२०५)
- अलबत्ता आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना नैतिकता में सहयोग कम मिलता हैं, परन्तु आवश्यकताओं की पूर्ति होने से व्यक्ति नैतिक बन ही जाएगा, इसमें मेरा विश्वास नहीं है। (२०६)
- व्रत आवश्यकताओं की पूर्ति होने और न होने से सम्बन्धित नहीं है। उसका संबंध आत्मा से है, भावना से है। (२०६)
- विलासी व्यक्ति व्रती नहीं बन सकता। (१०६)
- हिंसा जीवन में घुली-मिली रही है। फिर भी वह जीवन का व्रत नहीं बन सकी। व्रत अहिंसा है। उसे दूर रखकर मनुष्य मनुष्य भी नहीं रह सकता। (२०७)
- जिस प्रकार भवन का आधार नींव है, वृक्ष की स्थिति जड़ है, उसी प्रकार जीवन की नींव या जड़ संयम है। (२०९)
- नीति तब तक ही नीति है, जब तक वह संयम से अनुप्राणित है। संयम से कट जाने के पश्चात् वह अनीति बन जाती है। (२०९)
- सुखमय और शांतिमय जीवन का एक मात्र आधार संयम है। (२०९)
- वही जीवन सुखमय और शांतिमय हो सकता है, जो संयममय है। (२०९)
- अलबत्ता आदमी के कर्म अच्छे और बुरे हो सकते हैं, उसका आचरण और व्यवहार सत् और असत् हो सकता है, पर व्यक्ति तो घृणित और अस्पृश्य नहीं हो सकता। (२११)
- किसी को भी जाति, वर्ण,.....के आधार पर अस्पृश्य मानना चिंतन का दारिद्र्य है, मन का ओछापन है, मानवता पर कलंक का टीका है।(२११)
- आचरित धर्म का उपदेश ही दूसरों के लिए प्रेरणादायी होता है। (२१४)
- धर्म, संयम और व्रत का संबंध इहलोक-परलोक से नहीं, बल्कि जीवन-विकास से है। (२१६)
- व्रताचरण से जीवन-शुद्धि की ही अपेक्षा रखी जा सकती है। ऐहिक सुख-सुविधा की भावना रखना उपयुक्त नहीं। (२१६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विश्वभारती द्वारा प्रकाशित गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी का प्रवचन-साहित्य

- प्रवचन पाथेय भाग १
- प्रवचन पाथेय भाग २
- प्रवचन पाथेय भाग ३
- प्रवचन पाथेय भाग ४
- प्रवचन पाथेय भाग ५
- प्रवचन पाथेय भाग ६
- प्रवचन पाथेय भाग ७
- प्रवचन पाथेय भाग ८
- प्रवचन पाथेय भाग ९
- प्रवचन पाथेय भाग १०
- प्रवचन पाथेय भाग ११
- जागो! निद्रा त्यागो!!
  (प्रवचन पाथेय १२)
- आगे की सुधि लेइ
  (प्रवचन पाथेय १३)
- भोर भई
  (प्रवचन पाथेय १४)
- सूरज ढल ना जाए
  (प्रवचन पाथेय १५)
- सम्भल सयाने!
  (प्रवचन पाथेय १६)
- घर का रास्ता
  (प्रवचन पाथेय १७)
- महके अब मानव-मन
  (प्रवचन पाथेय १८)
- मानवता मुसकाए
  (प्रवचन पाथेय १९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

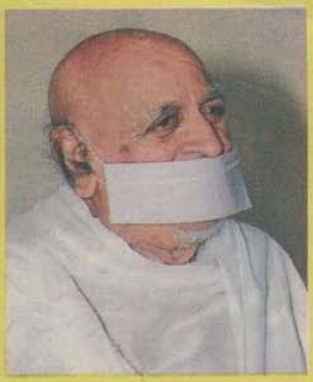

मानवता मुसकाए

गणाधिपति तुलसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org